UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ७ अङ्क २

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, २०१८

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Co-ordinator, Centre for Advanced Study, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष ७ अङ्क २

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February**, 2018**

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	

शोधलेख

1.	श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य	राजेश्वर सिंह, आई.ए.एस.	1–6
2.	गीता में प्रारम्भिक अध्यायचतुष्टयी का दार्शनिक प्रतिपाद्य	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	7–13
3.	वैदिक दृष्टि में नारी का स्वरूप	आचार्य गुलाब कोठारी	14–22
4.	संवो मनांसि जानताम्–वैश्विकशान्ति का मूल	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	23–28
5.	वैखानसागमीयमन्त्रविमर्श	प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय	29–37
6.	The Seven Steps to *Bhūtaśuddhi*	Geetha Padmanabhan	38–50
7.	त्रिपुरायणी	प्रो. कमलचन्द्र योगी	51–57
8.	श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीविमर्श	डॉ. शम्भु कुमार झा	58–65

9.	त्रिकदर्शनोक्त पञ्चधा शक्ति : एक विमर्श	डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी	66–71
10.	कश्मीर शैवत्रिकाचार्य स्वामी राम	प्रो. चमनलाल रैणा	72–76
11.	शैवागमस्वरूप–मीमांसा	विमल चन्द्र काण्डपाल	77–80
12.	मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य में कुण्डलिनी शक्ति : एक अनुशीलन	डॉ. आदित्य आंगिरस	81–89
13.	योग शिक्षा एवं पतञ्जलि–अष्टाङ्ग योग : मूल्यनिरूपण	डॉ सुशिम दुबे	90–97
14.	वैदिक मन्त्र, जप तथा हवनप्रक्रिया	प्रवीण कुमार शर्मा	98–103
15.	श्रीसीतारामकविराजपञ्चकम्	त्र्यम्बकेश्वर: चैतन्य:	104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रथम आलेख 'श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य' प्रख्यात प्रशासनिक अधिकारी एवं वैदिक संस्कृति के मर्मज्ञ मनीषी राजेश्वर सिंह जी, सम्भागीय आयुक्त, जयपुर ने भगवद् वाणी के मर्म को सरल भाषा के माध्यम से सुस्पष्ट किया है जो इनके गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन का परिचायक है तथा श्रीविद्या समुपासकों के लिए मानव जीवन के चरम लक्ष्य की शास्त्रीय दृष्टि को प्रतिपादित करता है।

इसी क्रम में द्वितीय आलेख 'गीता में प्रारम्भिक अध्यायचतुष्टयी का दार्शनिक प्रतिपाद्य' में गीता के प्रारम्भिक अध्याय चतुष्टयी का संक्षिप्त विश्लेषण है। इसमें गीता के प्रमुख सिद्धान्त का सूत्ररूप में निरूपण तथा यज्ञ के विविध स्वरूपों का सुनिरूपित किया गया है, जो अति महत्त्वपूर्ण है।

तृतीय आलेख में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन शोध संस्थान के आचार्य गुलाब कोठारी ने 'वैदिक दृष्टि में नारी का स्वरूप' विषय पर गम्भीर शास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत की है जो वेदविज्ञान के तार्किक आधार पर परीक्षित है। इस आलेख का लक्ष्य वैदिक सिद्धान्त के गम्भीर रहस्य को युवा पीढ़ी के समक्ष उजागर करना है तथा दाम्पत्य के मूलाधार की वैदिक व्याख्या प्रस्तुत करना है। जो मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करता है, अत: अनुपम है। श्रीविद्या साधना में भी प्रत्येक स्त्री भगवती का विग्रह है यह इससे स्पष्ट होता है।

चतुर्थ आलेख 'संवो मनांसि जानताम्—वैश्विकशान्ति का मूल' में डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने वैश्विक शान्ति का मूलाधार का अन्वेषण किया है। सामंजस्य भावना ही मनुष्यमात्र का मेल करवाती है तथा शान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

पञ्चम आलेख में प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय जी ने वैखानस आगम के आधार पर मन्त्रों के रहस्य को समझाने का सफलतम प्रयास किया है। विविध मन्त्र तथा उनकी विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, जो महत्त्वपूर्ण है।

षष्ठ आलेख 'The Seven Steps to *Bhūtaśuddhi*' में आदरणीया गीता पद्मनाभन् जी ने शरीरस्थ महाभूतों की 'भूतसिद्धि' भेदों के शास्त्रीय आधारों का सुस्पष्ट वर्णन किया है।

सप्तम आलेख में 'त्रिपुरायणी' में प्रो. कमलचन्द योगी ने राजस्थान के त्रिपुरासुन्दरी मन्दिर, बाँसवाड़ा की श्रीविद्या परम्परा तथा इसके साहित्य का यथोचित शास्त्रीय विवेचन किया है। इस आलेख के प्रथम भाग में कतिपय पद्यमय वर्णन भी किया गया है।

अष्टम आलेख में वैदिक मनीषी डॉ. शम्भुकुमार झा ने श्रीविद्या के रहस्यों तथा परिभाषाओं को सुस्पष्ट किया है। उपासना पद्धति के शास्त्रीय आधारों को प्रदर्शित किया है जो गम्भीर अध्ययन का परिणाम है।

नवम आलेख में शक्ति के पाँच भेदों को त्रिकदर्शन के अनुसार विवेचित करने का प्रयास डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी ने किया है। चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति का शास्त्रीय विश्लेषण सप्रमाण प्रस्तुत किया है।

दशम आलेख 'कश्मीर शैवत्रिकाचार्य स्वामी राम' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आधारित है। इस दर्शन को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय इस दिव्य मनीषी को है। अत: इनका चरित श्रीविद्या साधकों के लिए परम ज्ञातव्य एवं वन्दनीय है। एकादश आलेख में शैवागम की स्वरूप मीमांसा तथा संक्षिप्त विवरण शोधदृष्टि से प्रस्तुत है।

द्वादश आलेख में 'मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य में कुण्डलिनी शक्ति : एक अनुशीलन' में हिन्दी साहित्य में उपलब्ध कुण्डलिनी के स्वरूप का निर्धारण तथा पारिभाषिक शब्दावली के रहस्य को सुस्पष्ट करने का गम्भीर प्रयास किया गया है।

त्रयोदश आलेख में दार्शनिक एवं विचारक विद्वान् डॉ. सुशिम दुबे ने पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग की मूल्यपरक सर्वथा नवीन समीक्षा की है। इसमें नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्याधारित शिक्षा के महत्त्व तथा योगसूत्र के वैशिष्ट्य को विश्लेषित किया गया है। जो योग सूत्र के द्वारा मूल्य प्रतिष्ठा के महत्त्व को रेखांकित करता है तथा नवीन तथ्य का उद्घाटन करता है।

अन्तिम आलेख में प्रदीप कुमार शर्मा ने वैदिक मन्त्र, जप एवं हवन प्रक्रिया की विधि तथा पद्धति का सरल विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इसके बाद पूर्णाहुतिस्वरूपा श्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य जी की ललित पद्यमयी वन्दना प्रात: स्मरणीय गुरुजी सीतारामकविराज 'दत्तात्रेयानन्दनाथ' को समर्पित है। यह मधुर पदों की दिव्य रचना है।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
rajendrasharmauniraj@gmail.com

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य

राजेश्वर सिंह, आई.ए.एस.

भारतीय परम्परा में उपनिषद्, *ब्रह्मसूत्र* एवं *श्रीमद्भगवद्गीता* को प्रस्थानत्रयी कहा गया है। वेदों का सारतत्त्व उपनिषद् में तथा उपनिषदों का सारतत्त्व श्रीमद्भगवद्गीता में सन्निहित है। सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही मानव मन में सहज जिज्ञासाएँ उद्भूत होती रही हैं कि जीवन और जगत् का प्रयोजन क्या है, सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता के बीच क्या सम्बन्ध है, मानव जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, लक्ष्य प्राप्ति का साधन क्या है, मानव जीवन को उस चरम लक्ष्य की तरफ उन्मुख कैसे किया जाये, साध्य और साधन को जोड़ने वाली साधना का अनुशीलन कैसे किया जाये तथा व्यक्तिगत, व्यावसायिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में आने वाली समस्याओं का सहज समाधान कर एक लक्ष्योन्मुख, सक्रिय, सुखद, शान्तिपूर्ण एवं आनन्दमय अस्तित्व का निर्माण कैसे किया जाय। गीता में इन जिज्ञासाओं का सम्यक् समाधान उपलब्ध है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर के त्रिक को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसी को भारतीय दर्शन में 'जीव-माया-ब्रह्म' या 'पशु-पाश-पशुपति' के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर को अलग-अलग समयों में पश्चिम में भी महत्त्व मिला है, पर एक संयुक्त इकाई के रूप में इस त्रिक को महत्त्व भारतीय संस्कृति और धर्म चेतना में ही प्राप्त है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी परम्परा के अनुसार जीव, जगत् और जगदीश्वर के स्वरूप का वर्णन कर इनकी मूलभूत एकता का प्रतिपादन किया गया है। इन तीनों रूपों में विवर्त रूप से स्वयं को अभिव्यक्त करने वाला परमात्म तत्त्व वस्तुत: नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन है। गीता यद्यपि मुख्यत: पराविद्या या ब्रह्मविद्या का ग्रन्थ है, तथापि इसमें अपराविद्या अथवा लौकिक ज्ञान सम्बन्धी उपयोगी सामग्री का भी समावेश है। गीता पराविद्या व अपराविद्या के सम्बन्ध को उजागर करते हुए यह स्पष्ट रूपेण बताती है कि ब्रह्मविद्या के आधार व अनुप्रेरणा के अभाव में अपराविद्या मानव के लिए बन्धनकारी व अनर्थकारी ही सिद्ध होगी। गीता में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या समस्त जीवन को अनुप्राणित करती है। मानव जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप को यह परमात्म तत्त्व से जोड़ती है तथा इस प्रकार जीवन को सात्त्विक, सार्थक और सन्तुष्टिप्रद बनाने में सहायता करती है। प्रख्यात चिन्तक श्री कुबेरनाथ राय ने लिखा है कि "यही कारण है कि भारतीय अपराविद्या की प्रत्येक शाखा में ब्रह्म की कोई-न-कोई कला प्रतिष्ठित है। यह ज्योतिष में काल है, आयुर्वेद में प्राण है, गणित में शून्य और अनन्त है, संगीत में नाद है, साहित्य में रस है और व्याकरण में शब्द है। आर्ष चिन्तन की यह बुनियादी विशेषता है कि

वह चिन्तन के केन्द्र में उस 'एक' को प्रतिष्ठित करती है। व्यक्त अक्षर ब्रह्म सहस्रशीर्षा है और उसका हर एक शीर्ष पूज्य है। जो जैसा देखता है, उसे वैसा वर्णन करने की पूरी छूट है, पर सारे वर्णन उसी 'एक' के रूप विस्तार हैं।" व्यक्तिगत सत्ता की भावना का त्याग और विश्वात्मा से एकरूपता अथवा एकात्मता का मूलभूत सिद्धान्त गीता में आत्मौपम्य तथा समदृष्टि आदि अभिधाओं द्वारा निम्नलिखित श्लोक में अभिव्यक्त किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।

अर्थात्, हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। उक्तानुसार आत्मौपम्य तथा समदृष्टि का अनुशीलन मुनष्य को परम सत्ता से सायुज्य की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रादुर्भाव युद्ध क्षेत्र में हुआ है, जब युद्धोद्यत सेनाओं के बीच खड़े अर्जुन ने प्रतिपक्षी समूह में अपने निकटस्थ सम्बन्धियों को देखा और युद्ध के दुष्परिणाम के रूप में उनकी सम्भावित हत्या की सङ्कल्पना से व्यथित होकर धनुष-बाण का परित्याग कर स्वयं को युद्ध से पृथक् कर लिया। इस अवसर पर अर्जुन के रथ के सारथी भगवान् श्रीकृष्ण ने इस अकस्मात् नपुंसकता को प्राप्त होने के लिए उसकी भर्त्सना की और हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध में तत्पर होने के लिए उसका आह्वान किया। इस आह्वान के मूल में आत्मा की अमरता, कर्म करने में मनुष्य का अधिकार होना तथा फल में नहीं होना, ज्ञानयोग (कर्म में अकर्त्ता भाव) तथा कर्मयोग (निष्काम कर्म) दोनों ही दृष्टियों से आसक्ति को त्याग कर तथा जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर समत्व बुद्धि से युद्ध में प्रवृत्त होने से पाप का भागी नहीं होने का सिद्धान्त सन्निहित है। समत्व योग की संसिद्धि के सम्बन्ध में पृच्छा किए जाने पर भगवान् ने अर्जुन को स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण तथा इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक उपायों का उल्लेख किया जिसमें सर्वप्रमुख विषयों से उपरामता है क्योंकि विषय चिन्तन से ही क्रमशः आसक्ति, कामना, क्रोध, मूढ़भाव, स्मृतिभ्रम, बुद्धिनाश एवं सर्वनाश उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय संयम से मनुष्य निश्चयात्मिका बुद्धि, भावना, शान्ति और सुखप्रद अस्तित्व को उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचन में भगवान् ने क्रमशः ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का प्रतिपादन किया है तथा दो निष्ठाएँ बतायी हैं—एक कर्म के त्याग की और दूसरी निष्काम कर्म करने की किन्तु चूँकि कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता, अतः जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से, समत्वपूर्ण कर्त्तव्य बुद्धि से, सहज स्वाभाविक धर्मपालनार्थ और सर्वजनहितार्थ कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। गीता का ज्ञानयोग अथवा सांख्य दर्शन महर्षि कपिल के सांख्य शास्त्र से भिन्न है और गीता का कर्मयोग अथवा योगदर्शन भी महर्षि पतञ्जलि के योगशास्त्र से भिन्नता रखता है।

कपिल का सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है, जबकि गीता एकमेव परम सत्ता को ईश्वर, परमेश्वर तथा पुरुषोत्तम नामों से जगत् का आदि कारण और आधार स्वरूप घोषित करती है। इसी प्रकार पतञ्जलि का योगदर्शन आन्तरिक अनुशासन की व्यवस्था पर आधारित राजयोग की एक पद्धति है, जिसमें मन को निरुद्ध करके अष्टाङ्गयोग की साधना के माध्यम से समाधि की अवस्था प्राप्त की जाती है, जबकि गीता का योगदर्शन नैष्कर्म्यसिद्धि की स्वाभाविक प्रक्रिया के माध्यम से भक्ति और ज्ञान के पड़ाव तथा मोक्ष की मंजिल तय करता है। गीता में जीवन की एक यज्ञ कर्म के रूप में कल्पना की गई है, जिस यज्ञ में अर्पण भी ब्रह्म है, हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्त्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति तथा उक्त क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त किए जाने वाले फल भी ब्रह्म ही हैं। सम्पूर्ण जीवन को ब्रह्ममय समझकर निष्काम कर्म में संलग्न जितेन्द्रिय, साधन परायण और श्रद्धावान व्यक्ति ही क्रमश: भक्ति, ज्ञान एवं परम शान्ति को उपलब्ध होता है। यहाँ पर निष्काम कर्म, भक्ति तथा ज्ञान की पारस्परिक क्रमिकता तथा मौलिक अभेद सिद्ध होता है।

अर्जुन के यह पूछने पर कि ज्ञानयोग और कर्मयोग में मेरे लिए निश्चित कल्याणकारक साधन क्या है, परमात्मा ने दोनों को परमकल्याणकारी बताते हुए भी कर्मयोग को साधन में सुगम होने के कारण श्रेष्ठ बताया। वास्तव में ज्ञानी वह ही नहीं है जो संसार को त्याग दे, वरन् वह भी है जो संसार में रहते हुए भी काम, क्रोध एवं राग-द्वेष से रहित होकर निष्काम कर्म करता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष को गीता में योगमुक्त की संज्ञा दी गई है। ऐसा व्यक्ति समस्त सङ्कल्पों का त्याग कर देता है, वासनारहित और संग्रहरहित होकर अन्तरात्मा को परमात्मा के ध्यान में लगाता है और परमात्मा को सर्वत्र देखता है। यह स्थिति प्राप्त करने के लिए यथायोग्य आहार-विहार करना, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करना तथा यथायोग्य शयन एवं जागरण अनिवार्य है। गीता में विषयों से उपरामता को वैराग्य तथा मन को बारम्बार परमात्मा में निरुद्ध करने को अभ्यास की संज्ञा दी गई है। ऐसा प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तपस्वियों, शास्त्रज्ञानियों तथा सकाम कर्म करने वालों से श्रेष्ठतर है।

गीता में परमात्मा ने दुर्लभ तत्त्व ज्ञान का प्रतिपादन किया है, जिसे जानकर संसार में कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता है। परमात्मा की अपना अर्थात् जड़ प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार में विभाजित आठ भेद हैं। इससे भिन्न परमात्मा की पराप्रकृति है जो चेतन जीव बनकर सारे जगत् को धारण करती है। निम्न अपराप्रकृति में सत्त्व, रज और तम तीन गुण व्याप्त हैं जिनकी वजह से जीव मोह-माया के वशीभूत रहते हैं। ज्ञान और सुख की आसक्ति से सत्त्व बाँधता है, कामना की आसक्ति से रज बाँधता है और प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा से तम बाँधता है। सत्त्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है तथा तमो गुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये तीन गुण ही सब द्वन्द्वों को उत्पन्न करते हैं जो मानव की दुविधा के जनक हैं। यह त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष परमात्मा को निरन्तर भजते रहते हैं, वे इस माया का उल्लङ्घन कर जाते हैं। उत्तम कर्म करने वाले आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकार के भक्तजन परमात्मा को भजते हैं किन्तु इनमें तत्त्व ज्ञान को उपलब्ध ज्ञानी पुरुष ही परमात्मा को अत्यन्त प्रिय होते हैं। ऐसे अनन्य प्रेमी भक्तजन परमात्मा

का निरन्तर चिन्तन करते हुए उन्हें निष्काम भाव से भजते हैं और ऐसे भक्तजनों का योगक्षेम परमात्मा स्वयं वहन करता है। गीता में परमात्मा ने जगत् की प्रकृति एवं हेतु का भी विवेचन किया है जिसके अनुसार ब्रह्म के सङ्कल्प के आधार पर सब भूत प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति है परन्तु ब्रह्म उनमें स्थित नहीं है अर्थात् सृष्टि का अस्तित्व परमात्मा की सत्ता पर निर्भर है परन्तु परमात्मा की सत्ता सृष्टि पर निर्भर नहीं है। यह एक ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त है, सृष्टि के प्रत्येक अणु-परमाणु में वह रमा हुआ है, सब कुछ वही है, उससे भिन्न कहीं कुछ नहीं है। कल्पों के अन्त में सब भूत परमात्मा की प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में परमात्मा द्वारा पुन: उनकी रचना की जाती है। इस प्रकार अपनी प्रकृति को अङ्गीकार करके स्वभाव के बल से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण समुदाय को परमात्मा बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचते हैं। यहाँ पर पुन: परमात्मा ने जीवन का यज्ञ कर्म के रूप में वर्णन कर स्वयं को ही यह यज्ञ, इसका क्रतु, स्वधा, औषधि, मन्त्र, अग्नि और हवन स्वरूप बताया है। इस वर्णन के पीछे एक बहुत विराट उद्देश्य निहित है। यज्ञ का बृहत्तर अर्थ है, सृजन के लिए कर्म की आहुति। जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया परमात्मा के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा एक विराट यज्ञ है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी एक यज्ञ की तरह ही सम्पादित किया जाना चाहिए। यज्ञकर्म में देवता या दिव्य भाव को प्रतिष्ठित किया जाता है और उसे शुचिता अथवा यज्ञभाव से सम्पन्न किया जाता है। यज्ञ की भावना से किए गए कर्म में दिव्यता और शुचिता स्वयमेव उपस्थित हो जाती है, क्योंकि यज्ञ की मूल भावना ही *'इदन्न मम'* अर्थात् यह मेरे लिए नहीं है।

परमात्मा ही समस्त भूतों की उत्पत्ति का कारण है क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो परमात्मा से रहित हो। इसके अतिरिक्त जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और सत्त्वयुक्त वस्तु है, वह समस्त परमात्मा के तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति है। अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्व ज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।

अर्थात् वह परमात्मा विभागरहित एकरूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त सा प्रतीत होता है तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र रूप में उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने वाला एवं जानने योग्य है।

बृहत् ब्रह्मरूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और परमात्मा उस योनि में चेतन समुदायस्वरूप गर्भ को स्थापित करता है। उक्त जड़-चेतन संयोग से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य की देह क्षेत्र और उसको जानने वाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है। इसी प्रकार जगत् क्षेत्र और परमात्मा उसका क्षेत्रज्ञ है। प्रकृति विकारयुक्त तथा परिवर्तनशील है जबकि पुरुष शाश्वत परम तत्त्व है। पुरुष और प्रकृति के

विभेद को जो यथार्थत: जानता है, वही वास्तविक ज्ञान को उपलब्ध होता है। गीता में इस विभेद को 'ऊर्ध्वमूलम् अधोशाखा' के रूप में चित्रित किया गया है अर्थात् इसका मूल ऊपर है तथा शाखा विस्तार नीचे, जो मूल है वह अक्षर ब्रह्म है और जो शाखा है, वह जगत्। अक्षर ब्रह्म एक है जो सृष्टि की प्रत्येक इकाई के भीतर अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान है। सृष्टि का सारा व्यापार उसी के द्वारा सञ्चालित है। वह अरूप है, मगर रूप-रस-गन्ध वाला यह विश्व प्रपञ्च उसी का विस्तार है जो अन्ततः उसी में लीन हो जाता है। इस एकत्व की अनुभूति ही परम ज्ञान है और इस परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयास ही चरम पुरुषार्थ। गीता कहती है कि जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं, ऐसे सुख-दुःख से असङ्ग तथा द्वन्द्व मुक्त ज्ञानी जन ही उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

इस लोक में मनुष्य समुदाय दो ही प्रकार का है, दैवी प्रकृति वाला और आसुरी प्रकृति वाला। दैवी प्रकृति वाला मनुष्य दैवी सम्पदा लेकर उत्पन्न होता है जो मोक्ष की कारक है तथा आसुरी प्रकृति वाला मनुष्य आसुरी सम्पदा लेकर उत्पन्न होता है जो बन्धन की कारक है। अभय, निर्मलता, ध्यानस्थता, दानशीलता, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्यागशीलता, शान्ति, निन्दादि प्रपञ्च से उपरामता; दया, अनासक्ति, कोमलता, लोक-लाज, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, शुचिता, मैत्रीभाव व निरभिमानता दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं, जबकि दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष स्वाभावत: परमात्मा की तरफ उन्मुख होते हैं तथा ऐसे विशुद्ध बुद्धि से युक्त आत्मनियन्त्रित, एकान्तवासी, विरक्त, ध्यानयोग परायण, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष ब्रह्म तत्त्व में अभिन्न भाव से स्थित हो जाते हैं।

गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान् ने यह भी प्रतिपादित किया है कि चूँकि समस्त जागतिक कर्मों के कर्त्ता व भोक्ता वे स्वयं हैं, अत: शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराते हुए वे समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को सब प्रकार से उस परमेश्वर की शरण में जाने की प्रेरणा दी है, क्योंकि परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति तथा सनातन परमधाम की प्राप्ति होती है।

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

गीता के उपर्युक्त श्लोकों में *कठोपनिषद* के निम्नलिखित मन्त्र की प्रतिध्वनि है—

अणोरणीयान्महतो महीया–
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।

अर्थात् इस जीवात्मा के हृदयरूप गुफा में रहने वाला परमात्मा सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान् है। परमात्मा की उस महिमा को कामना रहित और चिन्ता रहित कोई विरला साधक सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही देख पाता है।

जब तक कामनाएँ और चिन्ताएँ हैं, तब तक संसार है। परमात्मा की कृपा से ही मनुष्य कामनाओं और फलतः चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है और इस मुक्त मानस की उज्ज्वल भावभूमि में ही उसे परमात्मा की महिमा का अनुभव हो सकता है। इसीलिए भारतीय चिन्तन परम्परा में सर्वाधिक बल कामनाओं व वासनाओं के नियन्त्रण और निर्मूलन पर दिया गया है। *ईशावास्योपनिषद्* के प्रथम एवं द्वितीय मन्त्र भी यही प्रतिपादित करते हैं कि इस अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़–चेतन स्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो, इसमें आसक्त मत होओ क्योंकि भोग्य पदार्थ किसका है अर्थात् किसी का भी नहीं है। इस जगत् में शास्त्र–नियत कर्मों को ईश्वर पूजार्थ करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार त्याग भाव से परमेश्वर के लिए किए जाने वाले कर्म तुझ मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग कर्मबन्धन से मुक्त होने का नहीं है। यही श्रीमद्भगवद्गीता का भी प्रतिपाद्य है।

कुलपतिचर,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
एवं
सम्भागीय आयुक्त, जयपुर।
दूरभाष : 9414033533

गीता में प्रारम्भिक अध्यायचतुष्टयी का दार्शनिक प्रतिपाद्य

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

गीता की पुष्पिका के अनुसार अट्ठारह अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं—1. अर्जुन-विषादयोग, 2. सांख्ययोग, 3. कर्मयोग, 4. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, 5. कर्मसंन्यास योग, 6. आत्मसंयम योग, 7. ज्ञानविज्ञानयोग, 8. अक्षरब्रह्मयोग, 9. राजविद्याराजगुह्ययोग, 10. विभूतियोग, 11. विश्वरूपदर्शनयोग, 12. भक्तियोग, 13. क्षेत्रक्षेत्रविभागयोग, 14. गुणत्रयविभागयोग, 15. पुरुषोत्तमयोग, 16. दैवासुरसम्पद्विभागयोग, 17. श्रद्धात्रयविभागयोग, 18. मोक्षसंन्यासयोग।

गीता के व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती ने अपनी मधुसूदनी टीका में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य 'तत्त्वमसि' महावाक्यार्थ बताया है। 'वह ब्रह्म तुम हो, मैं ब्रह्म हूँ, वह ब्रह्म है तथा यह आत्मा ब्रह्म है'। इन वैदिक वाक्यों में वर्णित परमात्मा तथा आत्मा का ऐक्य गीता का प्रधान विषय है। वेदान्त में ये महावाक्यार्थ कहलाते हैं। वेदों का भी यही विषय है। सच्चिदानन्दरूप पूर्णब्रह्म विष्णु ही परमेश्वर है उसको तीन मार्गों से प्राप्त किया जा सकता है। वेदों में तीन काण्ड हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपसनाकाण्ड। इसी प्रकार भगवद्गीता में भी तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड (अध्याय 1-6) में कर्म त्याग के मार्ग से 'त्वम्' अर्थात् विशुद्धात्मा का निरूपण है—

सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम्।
तत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मका।। — मधुसूदनी उपक्रमणिका

कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात्।
तद्रूपाष्टादशाध्याय्या गीता काण्डत्रयात्मिका।।— मधुसूदनी उपक्रमणिका

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना।
त्वं पदार्थो विशुद्धात्मा सोपपतिर्निरूप्यते।। — मधुसूदनी उपक्रमणिका

द्वितीय काण्ड अर्थात् (अध्याय 7-12) में भगवान् की भक्ति तथा दो प्रकार की निष्ठाएँ वर्णित हैं तथा भगवान् जिसे 'तत्' (वह ब्रह्म) कहा जाता है उसका सोपपत्तिक निरूपण है—

द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना।
भगवान् परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते।। — मधुसूदनी उपक्रमणिका

तृतीय काण्ड (अध्याय 13–18) में 'तत्' और 'त्वम्' का ऐक्य अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता वर्णित है। इस प्रकार इन तीन काण्डों का सम्बन्ध है—

तृतीय तु तयोरेक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम्।
एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम्।।— मधुसूदनी उपक्रमणिका

कुरुक्षेत्र में जब महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने वाला था उस समय कौरव ग्यारह अक्षोहिणी सेना अर्थात् चौबीस लाख पाँच हजार सात सौ योद्धा तथा पाण्डव सात अक्षौहिणी सेना अर्थात् पन्द्रह लाख तीस हजार नौ सौ सूरमा लेकर एकत्रित हुए। इतने अधिक युद्धार्थ उपस्थित मानव समुदाय को देखकर अर्जुन विचलित हुए। उन्होंने देखा कि यहाँ उपस्थित अधिकतर लोग आपस में भाई, बान्धव, रिश्तेदार एवं इष्टमित्र हैं, पर इस समय एक–दूसरे के खून के प्यासे हैं। राज्य के तुच्छ लोभ की सिद्धि के लिए यह प्रचण्ड नरसंहार या आत्मजनों की निर्मम हत्या अनुचित लगी और उन्होंने गम्भीरतापूर्वक इस समस्या का विचार किया।

राज्य सुख अकेले भोगने की वस्तु नहीं है जिन प्रिय स्वजन के लिए हम राज्य चाहते हैं वे सब पक्ष या विपक्ष में स्थित होकर मृत्यु को प्राप्त करेंगे, अत: राज्य सुख किसके लिए होगा? युद्ध में स्वजनों व गुरुजनों की हत्या कर राज्य प्राप्त करना कथमपि उचित नहीं है। युद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि समाज के वीरों को वध होने पर स्त्रियों, बच्चे तथा अशक्त वृद्ध बचते हैं जिनकी सुरक्षा कौन करेगा? अभिभावक के अभाव में कुल मर्यादा नष्ट हो जाएगी। धीरे–धीरे सभी वर्ण–धर्म चौपट हो जाएंगे। धर्म का नाश होगा। अपने इष्टमित्रों का नाश तथा भीषण नरसंहार से जातिधर्म और कुलधर्मों का उच्छेद, इन दो चिन्ताओं की आशङ्का से अर्जुन भयङ्कर मोहग्रस्त व विषादमग्न होते हैं। यह प्रथम अध्याय का विवेच्य है।

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन भगवान् से कहते हैं कि इस अवस्था में युद्ध को त्याग कर भिक्षा वृत्ति को श्रेयस्कर समझता हूँ, तब श्रीकृष्ण चिन्तित होते हैं कि निषिद्ध हिंसा के आधार पर आज अर्जुन कुमार्ग (भिक्षा वृत्ति) पर चलने को उद्यत है, हो सकता है भविष्य में काई भी शासक अन्याय से थोपे हुए युद्ध से इसी तरह विमुख हो सकता है। तब दण्डनीति पर आधारित समस्त समाज व्यवस्था उच्छिन्न हो जाएगी। अर्जुन पाण्डवों को कमजोर करने के साथ एक गलत उदाहरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं। अत: अर्जुन के शोक तथा मोहरूपी अज्ञान को ध्वंस करने हेतु उन्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। अर्जुन की समस्त आशङ्काओं का निरसन करके अन्त में (18.73) में अर्जुन से कहलवा लिया कि मेरा मोह नष्ट हो गया, स्मृति प्राप्त हो गई है। हे भगवान् आपकी कृपा से मेरी समस्त आशङ्काएँ समाप्त हो गई हैं। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। सांसारिक प्राणी राग–द्वेष से अभिभूत होकर उचित–अनुचित का विवेक नहीं कर पाते हैं। तब शास्त्र के द्वारा विहित अभ्युदय तथा निश्रेयस मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता है। गीता में श्रीकृष्ण इस समस्या को इस प्रकार सुलझाते हैं कि सब लोग वस्तुत नित्य है अत: मृत्यु की चिन्ता (शोक) करना निरर्थक है (2.12–30)। अत: अर्जुन को निर्द्वन्द्व होकर युद्ध करना चाहिए (2.38)। इसकी व्याख्या में भगवान् अर्जुन को

कर्मयोग की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कर्मयोग के द्वारा किए जाने वाले निष्काम कर्म मनुष्य को बन्धनग्रस्त नहीं करते हैं (2.39-52)। कर्मयोग के अभ्यास से मनुष्य की बुद्धि में स्थिरता आती है जिसे स्थितप्रज्ञता कहते हैं, इसी से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है (2.53)। इस अध्याय के अन्त तक स्थितप्रज्ञ के लक्षण स्पष्ट किए हैं।

विचारणीय है कि अर्जुन का युद्ध त्यागने का दृष्टिकोण तीन दृष्टियों से ठीक नहीं है—

1. तात्त्विक दृष्टि से अर्जुन का निर्णय असङ्गत है—युद्ध में स्वयं स्वजनों के मरने का शोक निरर्थक है क्योंकि बुद्धिमान् मरने-जीने की परवाह नहीं करते हैं (2.11)। युद्ध में वस्तुत: आत्मा नहीं मरती है, मरता है शरीर। शरीर की इन्द्रियाँ सुख-दु:ख का अनुभव कराने वाली अनित्य है, इसलिए देह मरने का शोक निरर्थक है (2.12)। मनुष्य का अनित्य सुख-दु:खानुभूति के लिए परेशान होना निरर्थक है। सुख-दु:ख वस्तुत: मिथ्या है। इन्द्रियों के साथ जब तक क्षणिक विषयभोग का संयोग होता है तब तक आनन्द की अनुभूति है। जब विषय संयोग नष्ट होता है तो दु:खी होते हैं। अत: क्षणिक शरीर तथा विषय संयोग को आधार बना कर युद्ध से विमुख होना उचित नहीं है (2.13-18)। आत्मा तो मरती नहीं है वह विकाररहित है, क्रियारहित है। उसका शरीर से सम्बन्ध ऐसा है जैसा शरीर और वस्त्र का सम्बन्ध। वस्त्र नष्ट होने पर शरीर नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार शरीर नष्ट होने पर भी अक्षय आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता है। वह नया शरीर धारण कर लेती है अत: शोक निरर्थक है (2.19-25)। यदि तुम्हें लगे, जन्म तथा मृत्यु वास्तविक है तो भी कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है तब जिसकी मृत्यु होगी उसका जन्म भी अनिवार्य होगा। इनको तुम रोक नहीं सकते हो। अत: चिन्ता न करो। नाशवान् शरीर की चिन्ता छोड़कर अविनाशी आत्मा का चिन्तन करो। व्यर्थ में क्यों दु:खी हो रहे हो? (2.26-30)।

2. लौकिक दृष्टि से भी अर्जुन का निर्णय असङ्गत—अर्जुन का युद्ध त्यागने का निर्णय भी वर्णधर्मानुसार ठीक नहीं है। क्षत्रिय का धर्मयुद्ध से विमुख होना शास्त्र निषिद्ध है। धर्मयुद्ध से तो क्षत्रिय बड़े प्रसन्न होते हैं। युद्ध त्यागने से तुम कर्त्तव्य भ्रष्ट होओगे, तुम्हारी प्रतिष्ठा धूलधूसरित हो जायेगी। शास्त्र निषिद्धाचरण से पापी बनोगे। लोकापवाद से मुँह छिपाने को जगह नहीं मिलेगी। जिस जीवन के लिए तुम मौत से भागना चाहते हो, तुम्हें निन्दनीय जीवन से मौत ही अच्छी लगेगी (2.31-36)। अत: तुम शास्त्र के मन्तव्य को समझो। युद्ध में मरने से स्वर्ग सुख प्राप्त होगा तथा जीतने पर राज्य सुख मिलेगा। अत: कर्त्तव्य मानकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ (2.37-38)।

3. कर्मयोग की दृष्टि से अर्जुन का निर्णय असङ्गत—कर्मयोग तो जीवन का राजमार्ग है जिस पर चलकर प्राणी कभी दु:खी नहीं हो सकता है। सकाम कर्म ही आत्मा को बाँधते हैं, निष्काम कर्म नहीं। कर्मयोग में चार बाते हैं—1. मनुष्य केवल कर्म करने का अधिकारी है, 2. मनुष्य के हाथ में फल प्राप्ति भगवदाधीन है, 3. अत: हमें कर्मफल को उद्देश्य करके कर्म नहीं करने चाहिए, 4. न ही कर्मों को

निष्प्रयोजन समझ कर निक्कमा बनना चाहिए। अत: सकाम कर्म को त्याग कर निष्काम भाव या अनासक्त योग से कर्मों का पालन करना चाहिए जिससे अखण्डानन्द (मोक्ष) प्राप्त हो (2.39-53)। अत: कर्मयोग के मर्म को न समझकर अर्जुन गलत निर्णय ले रहा है। उसे इन तीनों कारणों पर ध्यान देकर तुरन्त युद्ध करना चाहिए।

निष्काम कर्मयोगी को यहाँ स्थितप्रज्ञ कहा गया है जिस पर (2.54) अर्जुन उसके विषय में प्रश्न करता है। स्थितप्रज्ञ (जीवन्मुक्त) का क्या लक्षण है? कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? तथा कैसे चलता है? तब भगवान् अर्जुन की शङ्का का समाधान करते हुए स्थितप्रज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गीता (अध्याय 2, श्लोक 55-71) के अनुसार स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त के प्रमुख पन्द्रह लक्षण हैं—1. जो मन में रहने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है, 2. जो आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट है, 3. जो दु:खों से नहीं घबराता है, 4. जो सुखों की इच्छा नहीं रखता है, 5. जो आसक्ति, भय और क्रोध से मक्त है, 6. जो सर्वत्र ममतायुक्त स्नेह से रहित है, 7. जो शुभ वस्तु को पाकर हर्ष से फूल नहीं जाता है, 8. जो अशुभ वस्तु की प्राप्ति से द्वेष नहीं करता, 9. जो इन्द्रियों को कछुए की भाँति सभी विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी रखता है, 10. जो मन, इन्द्रियों को वश में रखकर भगवान् के परायण रहता है, 11. जो मन, इन्द्रियों को नियन्त्रित करके रागद्वेष रहित हो, इन्द्रियों से विषयों का शास्त्रानुकूल आसक्ति रहित सेवन करता है, 12. जो निर्मल और प्रसन्न चित्त रहता है, 13. जो नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में निरन्तर जाग्रत रहता है और नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखों में सोता रहता है अर्थात् आत्मरूप में स्थित और भोगों में उदासीन रहता है, 14. जो भोगों से विचलित न होकर समुद्र की तरह स्वस्वरूप में अचल स्थिर रहता है, 15. जो कामना, ममता, अहङ्कार और स्पृहा का त्याग कर देता है।

इस तरह के लक्षणों को घटित करता हुआ निष्काम कर्मयोगी मुक्ति को अनायास ही अधिगत कर लेता है। वह भवसागर के आवागमन से छूटकर परमगति को प्राप्त कर लेता है (2-55-72)।

तृतीय अध्याय में गीता का प्रधान लक्ष्य स्पष्ट किया गया है। मोक्ष के दो वैदिक उपाय हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग। सांख्य योग या ज्ञानमार्ग निवृत्ति मार्ग है। निष्काम कर्मयोग या योगमार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ मृगतृष्णा के जल की तरह या स्वप्नवत् मायिक हैं। अत: माया के कार्यरूप सम्पूर्ण गुणों में गुण ही रहते हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी पुरुष अपने को प्रकृति से पृथक् अर्थात् मन-इन्द्रियों तथा शरीर के कर्मों कर्त्तापन से रहित समझे तथा सर्वव्यापी परमात्मा में एकीभाव से नित्य रहता हुआ जगत् को ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझे। यह ज्ञान मार्ग या सांख्य योग है।

कर्मयोग में सब कुछ भगवान् का समझ कर कार्य की सिद्धि तथा असिद्धि में समत्व भाव रखते हुए, आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके भगवान् की आज्ञानुसार भगवान् के लिए ही सब कर्म करना है। यहाँ काम या फलासक्ति का त्याग आवश्यक है। इन दोनों मार्ग को एक ही माना जाता है, भेद केवल अधिकारी के लिए है। कर्मयोग संन्यासी के लिए सम्भव नहीं है। ज्ञानयोग सबके लिए सम्भव है। पर कर्मयोग

व्यावहारिक होने पर ज्ञानयोग से सरल है। कर्मों का त्याग हम क्षण भर के लिए भी नहीं कर सकते हैं अत: अनासक्ति भाव से नियत कर्म करने चाहिए (3.1-8)।

यज्ञ कर्म हमें बाँधते नहीं हैं क्योंकि ये परमात्मा के कर्म हैं। प्रजापति ने प्रजा के साथ ही यज्ञ को पैदा किया है तथा इसे सम्पूर्ण मानव जाति की इच्छाओं का पूरक बताया है। यज्ञ से देवता पुष्ट होकर साधक को पुष्ट करते हैं। यज्ञशेष अमृत होता है, यज्ञ नहीं करने से चोर समझा जाता है। हमें जो प्रकृति ने प्रदान किया उस ऋण के लिए उन्हें परमात्मा को धन्यवाद देना ही यज्ञ है। यज्ञ से सृष्टि चक्र चलता है। अन्न से प्राणी जीवित है, अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है। अत: प्राणी मात्र के लिए यज्ञ से श्रेष्ठतर कर्म कोई नहीं है (3.9-16)। यद्यपि आत्मज्ञानी के लिए कर्म करना कोई आवश्यक प्रतीत नहीं होता है, फिर भी आत्मसन्तुष्ट होने पर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करना आवश्यक है। जनकादि विदेह कहलाते हैं। वे ज्ञानी होकर भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हैं। यह सत्य है कि भगवान् को कोई आवश्यकता कर्म करने के लिए दिखाई नहीं देती है। फिर लोक उनका अनुसरण करता है। यदि श्रेष्ठ ज्ञानी, या भगवान् कर्म करना छोड़ दें तो समस्त संसार भी देखादेखी में कर्मत्याग देगा। ऐसा ज्ञानी का अभीष्ट नहीं है (3.17-24)। अत: कर्म तो करणीय है। ज्ञानी भी अज्ञानी की तरह कर्मों को लोकसंग्रह के लिए करे। अज्ञानी अपने को कर्मों का कर्त्ता अज्ञानवश समझता है। तत्त्वज्ञ ऐसा अहङ्कार नहीं करता है। उसे चाहिए कि अज्ञानी को कर्म त्यागने को प्रेरित नहीं करे। कर्मयोगी समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित करता हुआ आशा तथा ममता रहित हो जाए। संसार में स्वधर्म वा कर्त्तव्य पालन रूपी युद्ध के लिए सर्वदा तैयार रहे (3.25-33)। अज्ञानीजन इन्द्रिय सुखों के लिए कर्म करते हैं। इसलिए उन्हें कुछ प्रिय कर्म अच्छे तथा अप्रिय कर्म बुरे लगते हैं। राग-द्वेष ही अज्ञान है। अच्छा-बुरा कुछ नहीं है। व्यक्ति को स्वधर्म का पालन करना चाहिए भले ही उमसे मृत्यु क्यों नहीं हो जाए। दूसरे के अच्छे धर्म का पालन कथमपि नहीं करना चाहिए (3.34-35)। अब अर्जुन पाप का कारण क्या है? इस विषय में जिज्ञासा रखते हैं (3.36)। जिसके उत्तर में भगवान् कृष्ण ने कामना को ही पाप कारण सिद्ध किया है। भोगेच्छा ही मनुष्य को पतित करती है। इसकी तृप्ति कदापि नहीं हो सकती है। इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि इसके स्थान हैं। अत: इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर इसे वश में रखना चाहिए। काम (भोगेच्छा) ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है तथा बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। अत: आत्मा के लिए इन सबका निग्रह करे वही योगी है, वही ज्ञानी है। यही कर्मयोग की शिक्षा है (3.37-43)।

चतुर्थ अध्याय में कृष्ण प्रकृत विषय का व्याख्यान आगे बढ़ाते हैं। कर्मयोग की प्राचीन परम्परा को सङ्केतित करते हैं। वे कहते हैं कि मैंने इस योग (कर्मयोग) को विवस्वान् को दिया उसने अपने पुत्र मनु को दिया अब वह योग लोक में अज्ञात हो गया है, अत: पुन: अर्जुन को बता रहा हूँ। तब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि आप का जन्म कब और कैसे होता है। तब भगवान् स्पष्ट करते हैं, हे अर्जुन! तेरे और मेरे अनेक जन्म हो गये हैं। मैं अजन्मा होकर भी मायावश धर्मरक्षा तथा अधर्म के नाश के लिए जन्म ग्रहण करता हूँ। जिससे साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश होता है तथा धर्म की पुन: स्थापना होती है। तब तुम इस अवतार का

मर्म समझो। हम इस महाभारत में धर्मरक्षा के लिए एकत्रित हैं (4.1-9)। अत: ज्ञानी जन राग, भय तथा क्रोध को त्याग कर भगवान् की आज्ञानुसार व्यवहार करते हैं। जो जिसकी उपासना करते हैं उन्हें वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। मैंने चारों वर्णों को पैदा किया, पर मैं उनका कर्त्ता भी हूँ पर ज्ञानी होने पर अकर्त्ता हूँ। इसी तरह कर्मों से निर्लिप्त होकर कर्म करना चाहिए। यही सनातन मार्ग है (4.10-15)। कर्म वेदविहित या नियत कृत्य है। अकर्म वह है जहाँ कर्म करके भी मनुष्य उसके कर्तृत्व भाव से युक्त नहीं होता। विकर्म निषिद्ध कर्म को कहते हैं। अत: ज्ञानी को अकर्म करना चाहिए। ज्ञान योग सर्वश्रेष्ठ है जिसमें व्यक्ति आसक्ति को त्याग कर कर्म करता हुआ भी नहीं करता है। सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर द्वन्द्वातीत, ईर्ष्यारहित ज्ञानी कार्य करके भी उनके दोषों या गुणों से नहीं बन्धता है। इस तरह सब तरह की फलासक्ति रहित व्यक्ति मुक्त कहलाता है। ऐसे ज्ञानी के सभी कर्मों के जाल ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं। वह केवल यज्ञार्थ कर्म कर सकता है (4.16-23)।

यद्यपि तृतीय अध्याय में यज्ञ से तात्पर्य हवन से प्रतीत होता है क्योंकि उस से वर्षा होती है परन्तु भगवान् यज्ञ को व्यापक अर्थों में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ वर्णित यज्ञों का सार सङ्क्षेप इस प्रकार है।

गीतोक्त यज्ञ चौदह है जिन्हें सात वर्गों में बाँटा जा सकता है—1. जड़ वस्तु सम्बन्धी यज्ञ (द्रव्य यज्ञ और देव यज्ञ), 2. शरीर सम्बन्धी यज्ञ (ज्ञानेन्द्रिय यज्ञ और विषय यज्ञ), 3. वाणी सम्बन्धी यज्ञ (स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ), 4. प्राण सम्बन्धी यज्ञ (प्राण यज्ञ, अपान यज्ञ, प्राणापान यज्ञ तथा अन्तर प्राणयज्ञ), 5. बुद्धिसम्बन्धी यज्ञ (योग यज्ञ), 6. मिश्रित प्रकार यज्ञ (तपोयज्ञ, जपयज्ञ तथा इन्द्रिय प्राणयज्ञ), 7. परमात्म सम्बन्धी यज्ञ।

अब चौदह यज्ञों का सङ्क्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—1. द्रव्ययज्ञ—इस यज्ञ में धन-धान्य-वस्त्रादि सम्पत्ति को ईश्वर प्रीत्यर्थ दान, धर्म और परोपकारी कार्यों में खर्च करना होता है (4.18), 2. देवयज्ञ—इस यज्ञ में देवताओं के लिए जड़ द्रव्यों का हवन करना होता है (4.25), 3. ज्ञानेन्द्रिय यज्ञ—इस यज्ञ में ज्ञानेन्द्रियों के संयम का अभ्यास यानी इन्द्रियों को विषयों से रोकना होता है (4.26), 4. विषययज्ञ—इस यज्ञ में इन्द्रियों के द्वारा उन्हीं विषयों का सेवन करना जो यज्ञावशिष्ट हों (4.26), 5. स्वाध्यायज्ञानयज्ञ—अर्थज्ञानसहित धर्म ग्रन्थों के पढ़ने का अभ्यास होता है (वेदाध्ययन स्तोत्रपारायण आदि) (नामजप) (4.28), 6. प्राणयज्ञ—अपान, व्यान, उदान और समान इन चारों का प्राणवायु में हवन करना यानी पूरक प्राणायाम करना होता है (4.29), 7. अपानयज्ञ—प्राण, व्यान, उदान और समान—इन चारों का अपान वायु में हवन करना यानी रेचक प्राणायाम करना होता है (4.29), 8. प्राणापानयज्ञ—शरीर में दोषरहित हुई शुद्ध प्राणवायु को स्थिर, स्वस्थ और शान्त करना, सम प्रमाण में रोककर 'आभ्यन्तर' या 'बाह्य', 'कुम्भक' प्राणायाम करना होता है (4.29), 9. अनन्तप्राणयज्ञ—इन्द्रियों को चेतन करने वाली प्राणशक्ति को आहार के संयम से वश में करना होता है (4.30), 10. योगयज्ञ—बुद्धियोग यानी कुशलता

से निष्काम कर्म करना अथवा अष्टाङ्ग योग का साधन करना (4.28), 11. तपोयज्ञ—व्रतोपवास या अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों द्वारा शरीर मन को शुद्ध और पवित्र बनाना या स्वधर्म पालन रूप तप करना होता है (4.28), 12. जपयज्ञ—वाचिक, उपांशु, मानसिक, ध्यान या अनन्य जप करना होता है (10.25), 13. इन्द्रिय प्राण कर्मयज्ञ करना या इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित परमात्मा में स्थिति रूप योग में लगाना होता है (4.27), 14. ज्ञानयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ—सब कुछ ब्रह्मरूप समझ कर सर्वदा सर्वत्र समस्त क्रियाओं में सर्वथा ब्रह्म का अनुभव करना होता है (4.24-25)।

यज्ञ से शेष रहा हुआ अमृत होता है उसे प्राप्त करने वाला सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है। यज्ञ रहित के लिए न तो यह लोक है और न परलोक। इस तरह यज्ञ के बहुत भेद होते हैं पर सबसे श्रेष्ठ यज्ञ ज्ञानयज्ञ होता है। अत: अर्जुन ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शियों के समीप जाना चाहिए। उस परमज्ञान को प्राप्त कर तुम्हें दुबारा मोह नहीं होगा। सब कुछ तेरे में है। तू मुझमें है। आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। पापों से, पापियों से बचने के लिए ज्ञान नौका में सवार हो जाओ और लकड़ी के ढेर को जैसे अग्नि जलाती है वैसे ही ज्ञान समस्त पाप को नष्ट करता है। इससे पवित्र कुछ भी नहीं है। यही तुम कर्मयोग से स्वयं में पा लोगे। श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है। अज्ञानी और श्रद्धा रहित नष्ट होता है। अत: निष्काम कर्मयोग के द्वारा कर्मों को (फलेच्छा को) छोड़कर ज्ञान से संशयों को नष्ट कर आत्मवान् बनो। आत्मवान् कर्मों से नहीं बंधता है। ज्ञान कटार से अज्ञानरूप शङ्काओं को समाप्त कर कर्मयोग के लिए खड़े हो जाओ, युद्ध के लिए खड़े हो जाओ (4.31-32)। यही गीता का प्रधान लक्ष्य है। निवृत्तिमार्गी गीता का ज्ञान प्राप्ति लक्ष्य निर्धारित करते हैं। प्रवृत्तिमार्गी निष्काम कर्म प्रधान लक्ष्य निर्धारित करते हैं। दोनों एक ही लक्ष्य प्राप्ति के दो मार्ग हैं।

विभागाध्यक्ष एवं समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र,
दर्शनशास्त्र विभाग,
निदेशक, गाँधी अध्ययन केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
दूरभाष : 9413970601

वैदिक दृष्टि में नारी का स्वरूप

आचार्य गुलाब कोठारी

हमारी इस सृष्टि में निर्माण-स्थिति एवं संहार की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। और इस प्रक्रिया में कम से कम दो तत्त्व होते हैं—ब्रह्म और माया। विज्ञान कहता है कि सृष्टि में दो तत्त्व मूल में हैं। एक पदार्थ तथा दूसरा ऊर्जा यानी मैटर और एनर्जी। दोनों एक दूसरे में बदलते रहते हैं, किन्तु इनका ह्रास नहीं होता। वेद भी ब्रह्म और माया को ही इन दो तत्त्वों के रूप में देखता है। आगे जाकर इन्हीं को अग्नि-सोम के नाम से व्यवहार किया जाता है। आकाश में ये ही सूर्य-चन्द्रमा है, पर्जन्य और सोम है, पृथ्वी और वर्षा भी यही है, नर-नारी भी इन्हीं का रूपान्तरित अग्नि-सोम रूप है। अर्थात् नर-नारी भी तत्त्व रूप हैं, मात्र देह नहीं हैं। अग्नि-सोम के इस तात्त्विक स्वरूप को योषा-वृषा कहते हैं।

समय के साथ नर-नारी के देह में तो कोई परिवर्तन नहीं आया, किन्तु चिन्तन और जीवन शैली में बहुत परिवर्तन आया है। यह परिवर्तन किस सीमा तक हितकर हैं तथा कहाँ जाकर विष उगलने लगता हैं, किसी को इसका आकलन करने का समय नहीं मिलता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्त्री अपने भोग्या रूप को भी नहीं समझा पा रही और भोक्ता रूप में सफल भी नहीं हो पा रही। स्त्री (देह में) पुरुष के साथ स्वतन्त्रता एवं समानाधिकार के साथ - जीने को उत्सुक है। उसे शायद स्वतन्त्रता के अर्थ भी नहीं मालूम। क्या चन्द्रमा सूर्य से स्वतन्त्र हो सकता है या पृथ्वी बिना वर्षा के औषधि और वनस्पति पैदा कर सकती है? इनको तो संवत्सर के तन्त्र को शिरोधार्य करना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध में कुछ बिन्दु हैं चिन्तन के लिए—

द्वैत सृष्टि है, अद्वैत ब्रह्म है। दोनों मिलकर ही संस्कृति का निर्माण करते हैं। संस्कृति केवल नाच-गाना नहीं है जैसा कि सरकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में दिखाई पड़ती है। मूल में तो साहित्य ही संस्कृति का प्रतिनिधि है। इसमें इतिहास भी है और अध्यात्म भी। जीव भी है और ईश्वर भी। परा विद्या-अपरा विद्या, ज्ञान-विज्ञान, ब्रह्म और माया सब साहित्य का अंग है। विश्व का अव्यक्त भाग ही मानव में भूतात्मा कहलाता है, सूर्य भाग बुद्धि, चन्द्र-भाग मन तथा पार्थिव भाग शरीर कहलाता है। इन चारों का अधिष्ठाता ईश्वर अव्यय है।

ईश्वर अव्यय की तरह ही जीव अव्यय का अभिन्न संस्कृति स्वरूप है। इसके प्रकृति रूपा अव्यक्त से भूतात्म प्रकृति, सूर्य से बुद्धि प्रकृति, चन्द्र मन: प्रकृति एवं पृथ्वी से शरीर प्रकृति है। मूल में मानव का यही सांस्कृतिक स्वरूप है। प्रकृति-पुरुष के इस समष्टि स्वरूप का नाम ही संस्कृति है।

अग्नि–सोमात्मक जगत् में पुरुष–प्रकृति का विवर्त रूप ही नर–नारी है। नर केन्द्रगत शक्तिमान् है, वहीं मायाभाव, प्रकृति उस ब्रह्म के नित नए विवर्त भाव सृष्ट करती रहती है। सृष्टि के लिए प्रकृति–पुरुष का युगल भाव अनिवार्य है। अकेले प्रकृति या पुरुष से सृष्टि नहीं होती। प्रकृति कभी प्रकृति से संचालित नहीं होती। पुरुष ही प्रकृति का संचालक बना करता है। **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'** अव्यय पुरुष के नियंत्रण में ही प्रकृति विश्व निर्माण में समर्थ है।

जिस संस्कृति का समाज से, सभ्यता से, राजनीति आदि से सम्बन्ध हो, वह संस्कृति नहीं है। मूल में अधिदैवत–तन्त्र ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा अध्यात्म ही परोक्ष रूप से अधिभूत का संचालन करने की क्षमता रखता है। भूत कभी भूत का संचालन नहीं कर सकता। यदि भूत को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए, तब अपने तमोगुण से स्वयं ही समय के साथ नष्ट हो जाता है। विज्ञान कभी विज्ञान का नियंत्रण नहीं कर सकता, ज्ञान ही विज्ञान का नियन्ता बनता है। शरीर आत्मा से अलग होकर प्राणवान् नहीं रहता। हमारे अन्तर्जगत् का प्राणरूप अक्षरात्मा ही अपेक्षाकृत सूक्ष्म–स्थूल–स्थूलतर–स्थूलतम बहिर्जगत् रूप क्षर आत्मा का आश्रय स्थल बना हुआ है। इसी आश्रय–आश्रित भाव परम्परा का जब हम मानव के स्वरूप संदर्भ में सोचें, तो हमें प्राकृतिक–आधिदैविक–ईश्वरीय परम्परा का ही यथाक्रम प्राप्त होता है। **प्रकृति में**—पंचभूत–आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, **अधिदैवत में**—स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी तथा **मानव संस्था में**—अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन, शरीर नामों से व्यवृहत हुए दिखते हैं। इसी आधार पर भारतीय ज्ञान धारा त्रिसत्यवाद (त्रिः सत्याः वै देवाः) रूप है। भारतीय तत्त्ववाद को ईश्वर–जीव–जगत् रूप माना है। इसी को पुरुषार्थ चतुष्टय का धर्म–अर्थ–काम भी कहा जा सकता है। मोक्ष तो प्रत्येक जीव का लक्ष्य रहता है।

सृष्टि के विस्तार को अथवा अपूर्व की प्राप्ति को यज्ञ कहा है। अतः यज्ञ ही वेद का केन्द्र बिन्दु है। वेद चूंकि प्रजापति ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए हैं, **'एकोहं बहुस्याम'** की व्याख्या करते हैं। बहुस्याम ही अपूर्व की उत्पत्ति का स्वरूप है जिसका आधार भी मिथुन भाव (युगल रूप) ही बनता है। वेद भी अग्नि–सोम का युगल ही है। सृष्टि में तो पदार्थ और ऊर्जा, ब्रह्म और माया, नर–नारी आदि युगल रूप में ही व्यवस्थित हैं तथा एक नित्यक्रम में कार्यरत हैं। क्षर सृष्टि में इनको ही प्रकृति–पुरुष कहते हैं। अक्षर सृष्टि में कारण रूप में, इन्हीं को योषा–वृषा के नाम से जाना जाता है। वृषा का अर्थ है—सोम का वर्षण करना तथा योषा का अर्थ है मिश्रित करने वाला। सोम जब अग्नि में आहुत होता है तब अग्नि उसे मिश्रित करके निर्माण करने लगता है। चयन प्रक्रिया शुरू होती है। यह चिति अग्नि की ही कही जाती है। निर्मित पिण्ड भी अग्नि पिण्ड ही होता है।

सृष्टि प्रक्रिया के संदर्भ में पूर्व के देशों का यिन–यांग का सिद्धान्त भी युगल रूप में प्रचलित है तथा पश्चिम का क्रोमोसोम का विवेचन भी X तथा Y रूप में युगल तत्त्व स्वरूप ही है। वहाँ टेस्ट–ट्यूब–बेबी

पैदा होने लगे, किन्तु यह जैविक निर्माण है। शरीर प्रधान है–पदार्थ और ऊर्जा भाव तथा भौतिक वातावरण ही यहाँ प्रमुख हैं। वेद में प्रत्येक निर्माण के केन्द्र को मन कहते हैं। ब्रह्म के मन में ही **'एकोहं बहुस्याम'** की इच्छा पैदा हुई थी। जहाँ मन होता है, वहाँ पदार्थ की भी दो गतियाँ होती हैं—ऊर्ध्वगति और अधोगति। शरीर में यह संभव नहीं है। वेद शरीर को भिन्न इकाई के रूप में स्वीकार नहीं करता, वरन्, सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया की ही एक कड़ी मानता है। सृष्टि प्रक्रिया में शरीर आवश्यक हो सकता हैं, किन्तु कारण कभी भी नहीं हो सकता। क्षर सृष्टि का कारण तो अक्षर सृष्टि में ही रहेगा। जैसे मानव सृष्टि का योषा–वृषा भी अक्षर रूप है। अक्षर सृष्टि देव प्राणों पर आधारित रहती है। इसके जनक हैं पितृ प्राण और ऋषि प्राण। इनके सहयोग के बिना देव–अक्षर या क्षर पैदा नहीं हो सकते। वेद में जीव की उत्पत्ति में सात पितृ–प्राणों का योग प्रमाणित किया है, जो भौतिक विज्ञान में नहीं है। सात पीढियों के पूर्वजों के अंश इस योषा–वृषा में सम्मिलित रहते हैं तथा हमारे अंश भावी सात पीढियों तक पहुँचते हैं।

दूसरा पक्ष यह भी है कि योषा–वृषा का विवेचन करते समय जब तक हम शरीर के साथ मन–बुद्धि–आत्मा (अध्यात्म) को भी सम्मिलित नहीं करेंगे, तब तक हम शरीरपरक मिथुन भाव तक ही सीमित रह जाएंगे। मानव देह तो पैदा कर सकेंगे, अभिमन्यु की कल्पना नहीं कर सकते। काम पुरुषार्थ की उस उदात्त अवधारणा का स्पर्श नहीं कर पाएंगे जो सृष्टि का मूल है। '**कामस्तदग्रे समवर्ततादि...**' अभिप्राय यह है कि जीव शरीरों के सर्जन की प्रक्रिया केवल शरीर पर ही निर्भर नहीं है। वह दो मनों का मिलन तो है ही, दो आत्मरूपों का मिलन भी है। इसमें हमारे पिछले जन्मों के कर्मफल भी अपना प्रभाव डालते हैं। दाम्पत्य की भारतीय अवधारणा आत्मिक ही है, शारीरिक नहीं है।

पश्चिम के प्रभाव में दाम्पत्य सम्बन्धों की यह आध्यात्मिक पृष्ठभूमि धुंधली पड़ती जा रही है। भौगोलिक दृष्टि से पूर्वी प्रदेश अग्नि प्रधान तथा पश्चिमी देश सोमप्रधान क्षेत्र है। वहाँ के नर–नारी शरीर पर प्रकृति के प्रभाव एक से नहीं हो सकते। एक–दूसरे की नकल के परिणाम या दुष्परिणाम भी सामने आते जा रहे हैं। विवाह–विच्छेद की बढ़ती घटनाएं, 'लिव–इन–रिलेशन'–जैसी अवधारणाएं तथा समलैंगिकता जैसी मानसिक विकृतियाँ प्रकृति विरुद्ध आचरण ही तो है। इनको कानूनी मान्यता देना मानवता को पाश्विक स्वच्छन्दता की ओर धकेलना ही है। परम्परागत विवाह संस्था तो आज मानो 'आउट–डेटेड्' हो गई। जबकि इस संस्था का वैज्ञानिक आधार सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। मनुष्य जब पशु योनि से विकास की ओर बढ़ता है, तब विवाह का स्वरूप कुछ प्राकृतिक नियमों की वैज्ञानिकता को स्वीकारता है। ऐसी किसी समाज व्यवस्था पर नहीं ठहरता जिसे हम जब चाहें बदल डालें।

अग्नि सत्य है, सोम ऋत है। स्वयंभू, सूर्य, पृथ्वी सत्यलोक हैं। परमेष्ठी–चन्द्रमा सोम लोक हैं। परमेष्ठी लोक, स्वयंभू तथा सूर्य का आधार है, शक्ति है। चन्द्रमा, सूर्य और पृथ्वी की आत्मा है। अग्नि को जब तक सोम उपलब्ध रहता है, वह प्रज्ज्वलित रहता है। सोम–प्रवाह के ठहरते ही अग्नि भी सोम ही बन

जाता है। अग्नि स्वयं भी अपने चरम पर पहुँचकर सोम ही बन जाता है। सोम भी चरम पर पहुँचकर अग्नि का रूप ले लेता है। दोनों यथार्थ में एक ही है। अन्तर इतना ही है कि सोम सदा अग्नि में आहुत होता रहता है। सोम ऋत है–केन्द्र और आकृति विहीन है। अग्नि सत्य रूप है। सृष्टि का निर्माण सोम आधारित ही हैं, किन्तु स्वरूप आग्नेय है। सोम के जल जाने के बाद जो बचता है, वह अग्नि ही बचता है।दूसरी बात यह है कि सत्य सदा केन्द्र में ही रहता है। सोम ऋत होने से अग्नि को आवृत्त किए रहता है। सूर्य–अग्नि रूप केन्द्र के चारों ओर परमेष्ठी का सोम है। इसी का एक अन्य स्वरूप है सूर्य तथा किरणें। किरणें ही सूर्य के सोम का निर्माण करती है। सूर्य के कार्य करती हैं। सूर्य स्वयं कुछ नहीं करता। नहीं करते हुए भी 'कर्ता' वही तो है। यह भारतीय दाम्पत्य भाव का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जाता है। पति–पत्नी को अलग नहीं किया जा सकता। वे शरीर मात्र नहीं हैं। सन्तान के शरीर में पूरी उम्र बहते हैं।

सूर्य–चन्द्र का भी अग्नि–सोम रूप दाम्पत्य भाव है। इन्हीं के मिथुन भाव से ही 'संवत्सर' का निर्माण होता है। अग्नि–सोम के योग से ही ऋतुओं का निर्माण होता है। अग्नि–सोम के मिथुन भाव का आधार 'योषा–वृषा' का सिद्धान्त ही है। पुरुष–प्रकृति को सृष्टि का संचालक कहा गया है। इसमें पुरुष केन्द्रस्थ अग्नि तथा प्रकृति आवरण रूप हैं जिसके कारण पुरुष के भिन्न–भिन्न स्वरूप दिखाई देते हैं। पार्थिव मैथुनी सृष्टि में पुरुष को आत्मा तथा प्रकृति शरीर रूप होता है। शरीर का निर्माण भी प्रकृति द्वारा होता है तथा यही पुरुष का आवरण बनी रहती है। इस आवरण का नाम ही सृष्टि है।

सृष्टि के भी तीन धरातल हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। कार्य प्रणाली समान है। आकाश से वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि बनने के सात–सात चरण हैं। जैसे सप्तलोक का तन्त्र बना है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं रूप से। जल से फेन, शर्करा, पृथ्वी आदि सप्तचरण का निर्माण होता है। शरीर में अन्न से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्रादि सप्त धातुओं का निर्माण होता है। स्वरूप में सभी धरातल पंचपर्वा हैं—शरीर भी पंचकोश रूप है, तो स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी भी पंचपर्वा विश्व ही हैं। अग्नि–सोम की यज्ञात्मक भूमिका का आधार भी पाँच स्तर का ही है। द्युलोक के अग्नि में परमेष्ठी श्रद्धा की आहुति, पर्जन्य में सोम की आहुति, पृथिवी पर वर्षा की आहुति, शरीर में अन्न की आहुति, स्त्री शरीर में शुक्र आहुत होकर गर्भ धारण प्रक्रिया पूर्ण होती है। आगे भी शरीर का निर्माण (कल्क से शरीर तक) सात स्वरूपों में ही बनता है। अर्थ यह है कि निर्माण जो भी हो, होता दो तत्त्वों के योग से ही है। ये तत्त्व विपरीत भाव के होते हैं। इसी को युगल सृष्टि कहते हैं।

शिव के पास अनुग्रह है। अव्यय पुरुष स्वयं कृष्ण हैं। कृष्ण आनन्द घन हैं। शिव का तो अर्थ ही कल्याण कारक है। ब्रह्म बृंहणशील हैं। सबका भरण–पोषण करने वाले हैं। सभी अनुग्रह के पर्याय हैं। सभी सूर्य और रश्मियों की भांति द्वैत भी हैं, अद्वैत भी हैं। सृष्टि आरंभ में अद्वैत रूप तथा स्थूल धरातल पर द्वैत अधिक हैं। शैव और शाक्त दो सम्प्रदाय एक ही 'अद्वैत शिव' से निकले हैं। क्योंकि जहाँ शिव का ईश्वर भाव है, वही शक्ति का 'जीव' भाव है। व्यवहार में माया अथवा शक्ति ही दिखाई पड़ती है। ब्रह्म या शिव

तो अवतरित होकर केन्द्रस्थ रहते हैं। अत: केन्द्र ही नर भाव है, सत्य है। स्वरूप बदलता रहता है। सोम ही अग्नि की शक्ति है। बिना आधार (अग्नि) के सोम कहाँ टिक सकेगा? एक ही दूसरे में बदल रहा हैं। शिव ही शक्ति के गर्भ से 'सदाशिव' बनता है। परात्पर ही माया के गर्भ से अव्यय बनता है। इसी तरह नर ही नारी के गर्भ से पुत्र रूप में पैदा होता है।

शिव का विश्व रूप ही अभ्युदय है और विश्व का शिव में लीन हो जाना ही नि:श्रेयस है। पहला निर्माण काल है, दूसरा निर्वाण काल। यही शिव-शक्ति का दाम्पत्य भाव है। यही भारतीय विवाह संस्कार की मूल अवधारणा है। नारी यज्ञ में भागीदार बनकर पत्नी का स्वरूप ग्रहण करती है। यही सृष्टि निर्माण की कामना का प्रथम 'स्पन्द' कहलाता है। शक्ति ही कामना बनकर आहुत होती है। दाम्पत्य रति ही निर्माण की भूमि बनती है। इसी से वानप्रस्थ में देवरति का प्रादुर्भाव होता है, जो निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करती है।

नर आग्नेय है-सत्य है, नारी सौम्या है, ऋत है। केन्द्र रहित है। कामनाघन है। अभ्युदय ही इस कामना का लक्ष्य है। नर केन्द्र में जीना चाहता है। अंशी में लीन होने को जीवन भर आतुर रहता है। दाम्पत्य भाव में नर की प्रधानता गृहस्थी को अध्यात्म से जोड़े रखती है। नारी की प्रधानता भौतिक सुखों का जाल फैलाए रखती है। मन की चंचलता, आसक्ति, राग-द्वेष आदि क्लेशों में भी उलझी ही रहती है। भीतर आत्मा उसकी भी नर ही है, किन्तु लक्ष्य भोग ही रहता है, योग नहीं रहता।

यही नारी पत्नी रूप में संकल्पित होकर पति की शक्ति बन जाती है। पति को पूर्णता प्रदान करके स्वयं भी पूर्ण हो जाती है। दोनों का अर्धनारीश्वर स्वरूप पूर्णता को प्राप्त होता है। समय के साथ विरक्ति भी पत्नी ही पैदा करती है। यह कार्य अन्य नारी नहीं कर सकती। इसी विरक्त भाव के कारण पूर्णता प्राप्त 'पति' अपने नि:श्रेयस मार्ग का चयन कर पाता है। शक्ति ही पुरुष शरीर में सदाशिव को प्रकट कर देती है। शरीर शव, आत्मा सदाशिव।

जीवनभर शिव की चिद्रूपता केवल शक्ति के कारण ही बनी रहती है। शक्ति की कार्यरूपता उसे आवरित किए रहती है। उसकी गृहस्थी का संचालन, सम्बन्धी, स्वजन-परिजन, धर्म, समाज में वही पति का प्रतिनिधित्व करती है। संतान को संस्कारित करती है। ऐसा लगता है मानो वह पति को सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त रखने के लिए ही अपना सब कुछ त्यागकर आती है। यह आना ही पति (अग्नि) में आहुत हो जाना है। स्वयं के अस्तित्वों को लीन कर देना है। दिखाई दो देते हैं, किन्तु भीतर एक अद्वैत-बनकर शेष जीवन अविनाभाव रहते हैं।

हमारे 3 शरीर हैं—सूक्ष्म-स्थूल-कारण। नर-नारी दोनों के ही तीन-तीन शरीर हैं। तब योषा-वृषा क्या एक ही शरीर तक सीमित है? हमारा शरीर ऋषि, पितृ और देव प्राणों से निर्मित होता है। स्थूल शरीर भी पंचकोश युक्त है, पंच महाभूत निर्मित है, सप्त पितृ-पुरुषों से जुड़ा हुआ है। शुक्र-शोषित स्थूल भाव है, योषा-वृषा सूक्ष्म शरीर का धरातल है। इसमें भी मन नहीं होता। सृष्टि में मन केवल अव्यय पुरुष में ही रहता है-श्वोवसीयस मन। यह आत्मा के साथ, षोडशी पुरुष रूप में प्राप्त होता है। इसी के साथ चेतना का

प्रवेश होता है। इसमें प्रारब्ध कर्म का योग भी रहता है। आत्मा का अंश ही तो यज्ञ का मूल है। यह यज्ञ ही तप है, यही शुक्र (आत्मांश) का दान है। सृष्टि निर्माण क्रम ही धर्म है। स्तुति, सात्त्विक आत्मा के लिए प्रार्थना एवं देवभाव में यज्ञ करना ही श्रेष्ठ आत्मा (मुक्त विचरण करने वाली) को आकर्षित करते हैं। निर्माण प्रक्रिया मूलत: प्रकृति आधारित होती है। इसमें कार्यब्रह्म के अर्थवाक् तथ शब्दवाक् दोनों रूप कार्य करते हैं। सृष्टि की शुरुआत स्वयंभू लोक से ही होती है। यह वेदत्रयी (ऋक्-यजु-साम) का लोक है। इसमें यजु दो धातुओं से (यत्+जू) बनता है। यत् गति सूचक ऋषि प्राण है। जू स्थिति रूप आकाश है। आकाश ही सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने में उपादान कारण बनता है। आकाश की तन्मात्रा नाद है। अत: हम कहते हैं कि नाद से ही सृष्टि होती है। वायु की अवस्था विशेष का नाम अग्नि है। शुक्र की आहुति से पूर्व योनि के आकाश में मंथन करके अग्नि पैदा की जाती है। अग्नि-सोम से आगे सृष्टि होती है। वायु ही कारक बनता है।

जन:, तप: और सत्यम् लोक आत्मा भाग बनते हैं। यही अव्यय पुरुष है। स्व:, मह: लोक अक्षर सृष्टि है। प्राणमय कोश है। इसी के भीतर आनन्दमय, विज्ञानमय और मनोमय कोष की स्थिति है। पृथिवी और चन्द्रमा से स्थूल शरीर का निर्माण होता है। यह पंच महाभूतों की सृष्टि है। इस प्रकार सातों लोकों की अभिव्यक्ति हमारे इस शरीर में होती है। शब्दवाक् सृष्टि में भी मूलाधार से सहस्रार तक सातों धरातल कार्य करते हैं। मूलाधार से पाँच चक्र पाँच महाभूतों से जुड़े हैं। आगे अव्यय क्षेत्र है। ब्रह्म और माया का प्रवाह अव्यय से ही शुरू हो जाता है, जो हमारा कारण शरीर बनता है। ब्रह्म हमारा आत्म-पुरुष एवं माया इसके आवरणों का निर्माण करती है। यही अक्षर सृष्टि में अग्नि-सोम हैं, तथा क्षर सृष्टि में अन्नाद-अन्न हैं। अक्षर और क्षर मिलकर ही अव्यय पुरुष की प्रकृति कहलाते हैं।

वैदिक विज्ञान में पुरुष को तत्त्व रूप माना गया है। ब्रह्म के विवर्त के लिए उसी की दो इकाइयाँ बन जाती हैं—ब्रह्म और माया। प्रजोत्पत्ति की भी यज्ञ संज्ञा है। एक से अधिक विजातीय पदार्थों एवं तत्त्वों के रासायनिक मिश्रण से जो नया भाव पैदा होता है वही यज्ञ का स्वरूप है। इसी यज्ञ विधान से सम्वत्सर में सृष्टि का विस्तार होता है तथा इसी की प्रतिकृति मानवकृत यज्ञ को माना गया है। जगत् अग्नि सोममय है। इन्हीं के यजन से सृष्टि होती है। मानव शरीर में योषा-वृषा नामक तत्त्वों को सन्तान का उत्पादक माना गया है। नारी-नर को इन तत्त्वों का वाहक माना गया है।

योषा नारी शरीर में काम तत्त्व का सृजन करता है। यही कार्य नर शरीर में वृषा तत्त्व करता है। शोणित स्वरूप से अग्नि है जिसका स्वामी लाल रंग का मंगल ग्रह है। यह पराक्रमी ग्रह माना जाता है। नारी रुधिर में काम आग्नेय प्राण रूप स्थित रहता है। यही काम नर शरीर में शुक्र में वास करता है। इसका स्वामी और निर्माता शुक्र ग्रह होता है। शुक्र स्वभाव से सोम (नारी) है, अत: नारी के लिए आकर्षण बनता है। नारी शरीर में व्याप्त अग्नि (नर) होने से नर के लिए आकर्षण बनता है।

योषा दृष्टि से नारी अन्त:रूप से नर (शोणित) और शुक्र दृष्टि से नर सौम्य है। शरीर रचना की दृष्टि से नर अग्नि प्रधान और नारी सौम्या है। अर्थात् दोनों शरीर नर भी हैं और नारी भी हैं। शरीर से नर, नर है, सप्तम धातु शुक्र की दृष्टि से नारी है, शुक्र में निहित वृषा प्राण से पुन: नर है। इसी प्रकार नारी भी शरीर से नारी, शोणित से नर भावात्मक तथा भीतर योषा प्राणों से पुन: नारी ही है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सन्तान प्राप्ति का कारण नारी–नर का मिथुन कर्म मात्र ही नहीं है बल्कि योषा–वृषा का सम्बन्ध मूल है। यदि योषा–वृषा का मेल न हो, या दोनों में से एक प्राण का हनन हो जाए तो मात्र शरीर सम्बन्ध से सन्तान पैदा नहीं हो सकती। योषा–वृषा के मेल से बिना शरीर सम्बन्ध के भी सन्तान उत्पन्न हो सकती है। टेस्ट ट्यूब बेबी इसका उदाहरण है। पं. मोतीलाल शास्त्री ने *शतपथ ब्राह्मण* के विज्ञान भाष्य में योषा–वृषा का विस्तृत विवेचन किया है।

नर का शरीर भूताग्निप्रधान होने से वृषा है, अतएव शरीरदृष्टया नर–नर है। नारी का शरीर भूतसोमप्रधान होने से योषा है, अतएव शरीरदृष्टया नारी–नारी है। नर का शरीर आग्नेय है, अतएव वह नर है। नारी का शरीर सौम्य है, अतएव वह नारी है। एवं इस भूताग्नि, भूतसोम से सम्बद्ध शरीरों की दृष्टि से नर को नर कहना, नारी को नारी कहना यथार्थ है। प्रतिष्ठाग्नि तथा प्रतिष्ठासोम की दृष्टि से जब विचार किया जाता है, तो नर वास्तव में नारी है, एवं नारी वास्तव में नर है। नर के आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा शुक्र माना गया है। शुक्रसत्ता ही नर सत्ता का कारण है। शुक्र सौम्य है। सौम्य नारीतत्त्व शोणितरूप से नर की प्रतिष्ठा है।

नर–नारी का प्रथम युग्म गर्भस्थिति का कारण नहीं है। नर का सौम्यशुक्ररूप नारीतत्त्व, नारी का आग्नेय शोणितरूप नरतत्त्व, नारी–नर का युग्म कहा जाता है, इस द्वितीय युग्म से भी गर्भस्थिति नहीं होती। 'योषा–वृषा' के युग्म से प्रजननकर्म सम्पन्न होता है। सौम्य शुक्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला 'पुंभ्रूण' आग्नेय वृषाप्राणप्रधान है। यही शुक्र की प्रतिष्ठा है। आग्नेय शोणित के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला 'स्त्रीभ्रूण' योषाप्राणप्रधान है, यही शोणित की प्रतिष्ठा है। जब तक इन दोनों भ्रूणों का दाम्पत्यभाव नहीं हो जाता, तब तक शुक्र–शोणित का मिथुनभाव व्यर्थ है। यह तीसरा मिथुनभाव ही गर्भस्थिति का कारण है। नर–नारी विवाहसूत्र में बद्ध होते हैं, ऋतुकाल में यथा नियम दाम्पत्यभाव का अनुगमन कर ऋण से उऋण होते हैं।

दाम्पत्यभाव में वह नारी नर–शरीर के साथ ऐक्य–भाव में आती हुई शुक्रग्रहणकाल में कम्पित हो जाती है। यही इसका गर्भरसकाल (शुक्रग्रहणकाल) है। इस समय शुक्र शोणित का परस्पर ओत–प्रोत भाव होता है। पुंभ्रूणाधिक्य से नर, नारीभ्रूणाधिक्य से कन्या, दोनों के साम्य से नपुंसक सन्तान, यथापरिस्थिति तीनों में से एक सन्तान गर्भीभूत हो जाती है। गर्भीभूत इन सन्तानों का पोषण मातृभुक्त अन्न द्वारा होता है अतएव गर्भस्थ शिशु की (अन्नवान्) संज्ञा हो जाती है। वही शुक्राहुति मातृगर्भाशय में प्रविष्ट हो अपत्यरूप (सन्तान) में परिणत होती है।

इसमें एक तथ्य स्पष्ट है कि नर शरीर स्थित शुक्र संस्था का स्थायी भाव है। बीजी स्वरूप है जिसमें सात पीढियों के अंश रहते हैं। यही वृषा तत्त्व है। शुक्र तो मात्र वाहक और संरक्षक का कार्य करता है। स्वयं में बीज नहीं होता। इसी प्रकार शोणित का स्वरूप अस्थायी माना है। धरती रूप है। सन्तान की पहचान बीजी पिता से होती है, मातृभाव (सौम्या) अग्नि में आहुत रहता हुआ गौण ही रहता है। मूल में तो पुरुष आत्मा का वाचक है। स्त्री-पुरुष दोनों आत्मा के ही रूप हैं। अत: दोनों ही पुरुष हैं।

प्रकृति में चन्द्रमा को सूर्य की पत्नी माना गया है। सूर्य के प्रकाश से ही चन्द्रमा प्रकाशित रहता है। नर-नारी में भी क्रमश: इनकी ही प्रधानता रहती है। सूर्य-चन्द्र के योग से ही सम्वत्सर बनता है, इसी से ऋतुओं का जन्म होता है। सम्वत्सर से ही पृथ्वी के जड-चेतन पैदा होते हैं। स्थूल सृष्टि का कारण अक्षर सृष्टि होती है जो सूर्यगत कही गई है। सूर्य ही अक्षर या देव प्राणों का केन्द्र है, इन्द्र है। देवप्राणों का निर्माण स्वयंभू लोक के ऋषि प्राण तथा परमेष्ठी लोक के पितृप्राण के यजन से होता है। अत: हमारा आत्मा इन लोकों के साथ भी जुड़ा रहता है तथा स्वतन्त्र स्थूल सृष्टि का नियामक भी जान पड़ता है। भृगु-अंगिरा ही योषा-वृषा रूप आगे बढ़ते हैं। ऋषि, पितृ और देव प्राणों से ऋण लेकर ही हम प्राणी वर्ग पैदा होते हैं। तीनों ही अग्नि प्राण हैं-सोम की सहायता से सृष्टिकर्ता बनते हैं, किन्तु सोम की चर्चा कहीं नहीं होती। माया सदा ब्रह्म में लीन रहकर निर्माण करती है। सृष्टि ब्रह्म का ही विवर्त कहलाती है। माया अन्त में ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। इसी कारण सृष्टि पुरुष प्रधान कहलाती है।

वैसे हमारी विवाह संस्था का लक्ष्य भी मात्र निर्माण ही नहीं है। इसी में निर्वाण की भूमिका भी लक्षित है। दाम्पत्य रति (विवाह का स्वरूप) बहुत विशाल है। नारी का पत्नीस्वरूप वास्तव में 'शक्ति' रूपा ही है और प्रत्येक पत्नी का ही है। नारी मात्र का नहीं है। पति-पत्नी अध्यात्म के चारों धरातलों पर (आत्मा-शरीर-मन-बुद्धि) साथ-साथ जीते हैं। आश्रम व्यवस्था के अनुरूप जीते हैं। इसमें बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। यह रहस्य पूर्वी देशों में, जहाँ अग्नि अर्थात् पुरुष की प्रधानता है, नि:श्रेयस जीवन का उद्देश्य है। सोम प्रधान पश्चिम में अभ्युदय-भौतिक सुख-प्रधान होने से निर्वाण का चिन्तन ही नहीं है। दाम्पत्य भाव में सृष्टि स्वरूप का चिन्तन ही नहीं है।

पश्चिम में विवाह के बाद भी पति-पत्नी एक-दूसरे के लिए, अर्थात् एकाकार होकर नहीं जीते। दोनों ही अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाकर जीना चाहते हैं। आगे चलकर यही चिन्तन उनके विवाह विच्छेद का कारण बनता है। पूर्व में विवाह विच्छेद की अवधारणा शास्त्रीय तो कभी नहीं थी। आदिम जातियों में ही रही थी। यहाँ विवाह का उद्देश्य दोनों - 'अभ्युदय और नि:श्रेयस' रहे हैं। जीवन के 25 साल पूर्ण होने पर विवाह के साथ ही 'गृहस्थाश्रम' की शुरुआत होती है। नारी का पत्नी रूप में, नर के जीवन में प्रवेश होता है। वह नर के साथ जीने के लिए आती है। अपना सबकुछ छोड़कर ही आती है (नाम और पहचान भी)।

नारी सौम्या है और अग्नि में पूर्ण रूपेण आहुत होने आती है। फिर से माता-पिता के घर में जाकर जीना उसका स्वप्न नहीं होता।

तब जीवन के शेष 75 साल उसको पति के घर में क्या करना है? पहले तो उस घर में अपना स्वामित्व स्थापित करना है। पति को अपने वशीभूत करना है, ताकि वह हर सलाह को स्वीकार कर सके।। इसके लिए पति को रिझाना उसका पहला और अनिवार्य कर्म होता है। वह पति की 'शक्ति' है। उसे दाम्पत्य रति-वात्सल्य, स्नेह, श्रद्धा, प्रेम- का अभ्यास कराती है। उसके अग्नि प्रधान जीवन में इन गुणों का स्थान कहाँ हो सकता है? वह अपने माधुर्य और लालित्य के सहारे उसमें मिठास घोलने का प्रयास करती है। उसे भी स्त्रैण बनाने का प्रयास करती है। यही तो पुरुष का वह निर्माण है, जो निर्वाण की पृष्ठ भूमि है। विवाह पूर्व जो व्यक्ति स्वच्छन्द था, नारी साहचर्य से अनभिज्ञ था, कोरा पत्थर था - संवेदनाहीन था, उसे कडुवे-मीठे बोल से पूर्णता देती है। उसके अधूरेपन की पूर्णता उसकी स्वयं की पूर्णता भी बन जाती है। सही अर्थों में वही नर की भोक्ता है। जीवन के 25 वर्षों में पुरुष का निर्माण इस प्रकार करती है कि 50 वर्ष की उम्र में पुरुष के मन में एक विरक्ति का भाव भी पैदा कर देती है। उसके जीवन के निर्माण क्रम से बाहर होकर उसे निर्वाण पथ पर खड़ा कर देती है। यहाँ से जीवन का तीसरा आश्रम - वानप्रस्थ शुरू हो जाता है। अब दोनों पूर्ण भी हैं और मित्र भी हैं।

वानप्रस्थ गृहस्थ कार्यों से मुक्ति का काल है। धारणा-ध्यान-समाधि-सेवा के अभ्यास का काल है। मन में विरक्ति का भाव यदि नहीं आया, तो व्यक्ति कभी वानप्रस्थ को सही रूप में सार्थक नहीं बना सकता। यह कार्य तो न स्वयं व्यक्ति ही कर सकता है, न कोई अन्य नारी ही कर सकती है। अन्य नारी तो आसक्ति ही पैदा करेगी, चंचलता पैदा करेगी। तब कहाँ ध्यान और कहाँ समाधि?

पत्नी वानप्रस्थ में पति के मन को प्राण और वाक् (सृष्टि क्रम) से हटाकर आनन्द-विज्ञान (मोक्ष साक्षी क्रम) से जोड़ती है। आध्यात्मिक दाम्पत्य रति को आधिदैविक देवरति में प्रेरित करती है। जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) ही तो है। कामनामुक्त व्यक्ति ही मोक्ष प्राप्त करता है। नारी या नर दोनों ही अकेले रहकर कामनामुक्त नहीं हो सकते। यही आज पश्चिम की मूल समस्या है। न अकेले रह सकते, न दूसरे का बनकर ही रह सकते। एक साथी से विरक्त होते ही दूसरे की तलाश शुरू हो जाती है। जीवन आहार-निद्रा-भय-मैथुन में बंधकर रह जाता है। अभ्युदय प्राप्त हो जाता है। निःश्रेयस उनके चिन्तन का विषय ही नहीं होता।

पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन एवं शोधपीठ संस्थान
Goldsouk 3rd Floor
मालवीय नगर, जयपुर-302017

संवो मनांसि जानताम्–वैश्विकशान्ति का मूल

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

वेद हमारे भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। हमारे तपःपूत मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वेदों में मानव जीवन के विकास, संरक्षण, पोषण एवं कल्याण के लिए विस्तार से प्रकाश डाला है। उस प्रपंच रचनाकार के एक चौथाई भाग से ही समस्त विश्व प्रपंच जो गोचर हो रहा है उसकी रचना साकार हुई।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः। *ऋग्वेद*, 10.90.4

अपने *रामचरितमानस* के बालकाण्ड में राम नाम की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी ने इस समूचे विश्व प्रपंच के रचनाकार कारण के रूप में श्रीसीताराम के नाम को निरूपित किया है।

वन्दऊ रामनाम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥

परमात्मा ने विभिन्न जीवों की सृष्टि की और उनके भरण–पोषण के लिए एक सुन्दर पर्यावरण भी रचा। मन्द–मन्द प्रवाहित होने वाली वायु, जाड़ों में गुदगुदाने वाली सुखकर धूप, रात को उल्लास से भर देने वाली चाँदनी, कल–कल अविरल प्रवाहित होने वाली निर्मल स्रोतस्विनी का निर्मल अलौकिक दिव्य संगीत उनमें अठकेलियाँ करने वाली विभिन्न प्रकार की मछलियाँ और जलीय जीव–जन्तु, दोनों किनारों पर अद्भुत हरीतिमा से मन को अपूर्व शान्ति का स्वाद देने वाली उपवन राजि। न जाने कितने रंगों के खिलते फूल और उन पर मड़राती विविधवर्णी तितलियाँ, स्वर्गीय संगीत का अनुभव कराने वाली भवरों की गुंजार, आसमान में उड़ते हुए पक्षियों की पंक्ति और उनका मीठा कलरव। यह विविध–रंग का जीवन परमात्मा ने यदि सोचें तो हमारे लिए ही तो बनाया? हमें भी शुद्ध–बुद्ध और निरञ्जन ने ही बनाया था।

वैदिक पौराणिक युग में माताएँ अपने बच्चों को उपदेश करती हुई कहा करती थीं—**शुद्धोसि बुद्धोसि निरंजनोसि**। अपने शिशुओं को लोरियों के रूप में सुनाकर उनके स्वभाव का परिचय उन्हें कराया करती थीं। पर परमात्मा ने हम शक्तिशाली मनुष्य जीवों को सभी इन्द्रियों के राजा के रूप में अतीन्द्रिय कहे जाने वाले 'मन' का निर्माण कर दिया और उसे बहुत शक्ति भी दे दी। यहीं गड़बड़ हो गयी और हम भटके चंचल मन के पीछे स्वार्थलिप्सु होकर इस सुन्दर संसार की रचना को बाजार बना बैठे। हमें इसका ध्यान नहीं रहा कि आखिर हमको भी तो जीना है? कहाँ जीयेंगे? पर्यावरण ही नहीं रही रहेगा तो हमें परिशुद्ध वायु कहाँ से मिलेगी? हम नादियों का, जंगलों का, वृक्षों का अन्धाधुन्ध अपने स्वार्थपूर्ति के लिए दोहन करने लग

गये। विचार करके देखें तो इस सब का कारण मनुष्य नामक जीव का बिगडा बेकाबू मन ही है। रोग का निदान हो और तदनुकूल औषधि की व्यवस्था हो तो किसी आधिव्याधि का निवारण हो पाता है। मेरी समझ में किसी पौधे की पत्ती निकाल देने मात्र से उसका जीवन चक्र सुधरने वाला नहीं। इलाज तो जड़ की करनी पडेगी। तभी रोग दोष का निवारण सम्भव हो पायेगा। यह मन जो इन सब दोषों का कारण है उसपर विचार करें।

हमारा शरीर (सूक्ष्मशरीर) पाँच ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि, मन, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच वायु इन सत्रह अवयवों से युक्त होता हैं। इनमें भी मन का विशेष स्थान है। उभयात्मिका अन्तःकरण वृत्ति को मन कहा जाता है। अन्तः करण की चार वृत्तियों–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में मन विशिष्ट है। '**मन्यते बुध्यतेऽनेनेति**',(अष्टाध्यायी, 4,128) अर्थात् जिसके द्वारा मनन और अवबोधन किया जाय उसे मन कहते हैं। हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने मन को प्रदूषित होने से बचाने के लिए अनेक उपायों को बताया है। उन्होंने मन को शिवसङ्कल्प करने पर बल दिया है। मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है, वह ज्ञानशक्ति प्रधान है। *श्रीमद्भागवत महापुराण* के एकादश स्कन्ध, 23 वें अध्याय के 46 वें श्लोक में कहा गया है–

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधि ॥ 11.23.46

अर्थात् दान, अपने धर्म का पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म, ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय। मन का समाहित हो जाना ही परमयोग है।

सभी इन्द्रियाँ मन के वश में है पर मन किसी भी इन्द्रिय के वश में नहीं है। इसी मन के शिवसङ्कल्प बनाने के लिए यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के प्रथम छः मन्त्रों में तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु की बार–बार अनुवृत्ति की गयी है। मन की गति अत्यन्त तीव्र है। वायु की गति मापी जा सकती है पर मन की नहीं। इच्छा होते ही मन का लाखों कोश दूर पहुँच जाना, ये दोनों क्रियाएँ साथ–साथ ही सम्पन्न हो जाती हैं। यह पुरुष की जाग्रदवस्था में दूर–दूर तक परिभ्रमण करता है तथा सुषुप्ति अवस्था में पुन पुरुष के अन्तः करण में प्रविष्ट हो जाता है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैतिदैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ *यजुर्वेद*, 34.1

मन के द्वारा ही सप्त होताओं से युक्त यज्ञ का विस्तार किया जाता है। यही सप्त होता जीवनरूप यज्ञ का संचालन करते हैं। ये सप्त होता–शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा और परमात्मा हैं,

इनमें सबकों संचालित करने वाला मन है। अतः हमें प्रयत्नपूर्वक मन को शुद्ध रखना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं–

एकहि साधे सब सधे। सब साधे सब जाय॥

यजुर्वेद के 33 वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में कहा गया हे–ऋग्वेद (वाक्) वाणी के पर्यावरण को शुद्धकरता है, यजुर्वेद मन के। साम का सम्बन्ध प्राण से और अथर्ववेद का चक्षु और श्रोत्र से। ऋग्वेद में देवताओं की स्तुति एवं प्रशंसा होने के कारण—**ऋचं वाचं प्रपद्ये** कहा गया है। यजुर्वेद मन का अवबोधक होने से मन से सम्बद्ध है—**मनोयजुः प्रपद्ये**, सामवेद लयात्मक होने से शान्तिदायक एवं प्राणों का रक्षक है—**साम प्राणं प्रपद्ये**, अथर्ववेद–श्रूयमाण, दृश्यमान जगत् के तत्त्वों की मीमांसा करता है—**चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। अहं श्रोत्रं मदीयां श्रवणशक्तिम् अवलम्ब्य चक्षुः दिव्य चक्षुर्भूतम् अंगिरसो वेदम् प्रपद्ये।** चारो संहिताओं में मानसिक पर्यावरण की परिशुद्धि के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।

ये सारी परिकल्पना वैश्विक शान्ति के लिए की गयी है। अथर्ववेद में विश्वशान्ति के अनेक मन्त्र प्रतिपादित हैं जो लौकिक एवं पारलैकिक दोनों दृष्टियों से उपादेय हैं। शान्ति और पौष्टिक दोनों प्रकार के कर्मों का सम्पादन केवल इसी वेद से होता है। *अथर्वपरिशिष्ट* में लिखा है कि अथर्ववेद का ज्ञाता शान्तिकर्म का पारगामी (पुरोहित) जिस राष्ट्र में रहता है वह राष्ट्र उपद्रवों से हीन होकर वृद्धि को प्राप्त करता है। देशभक्ति, देश प्रेम और देश के लिए बलिदान होने की भावना का सुदृढ़ प्रतिपादन सर्वप्रथम *अथर्ववेद* के पृथिवीसूक्त में ही हुआ है।

माताभूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। *अथर्ववेद* 12.1.12

पृथिवी हमारी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम। *अथर्ववेद* 12.1.62

हम मातृभूमि के लिए बलिदान हों।

सम्पूर्ण विश्व के शान्ति की कामना करते हुए कहा गया है—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवां सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः !शान्तिः !शान्तिः!

हे देवगण! हम परमेश्वर का यजन करते हुए कानों से कल्याणकारी वचन सुनें, नेत्रों से कल्याण ही देखें, सुदृढ़ अंग युक्त शरीर से ईश्वर की स्तुति करते हुए हम लोग जो आयु परमात्मा/आराध्यदेव के काम

आ सके उसका उपभोग करें। सब ओर फैले हुए सुयशवाले इन्द्र हमारे कल्याण का पोषण करें। सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान रखने वाले पूषा हमारे कल्याण का पोषण करें। अरिष्टों को मिटाने के लिए चक्रसदृश शक्तिशाली गरुडदेव हमारे लिए कल्याण का पोषण करें तथा बुद्धि के स्वामी बृहस्पति भी हमारे लिए कल्याण की पुष्टि करें। हे भगवन् हमारे त्रिविध ताप की शक्ति हो।

ॐ सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः। शान्तिः !शान्ति!।

हे पूर्णब्रह्म परमात्मन्! आप हमसब की साथ-साथ रक्षाकरें, हमारा साथ-साथ पालन करें। हम साथ-साथ शाक्ति प्राप्त करें। हमारी पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो हम परस्पर द्वेष न करें। *तैत्तिरीयोपनिषद्* के शिक्षाबल्ली के प्रथम अनुवाक में उस परमेश्वर से शान्ति की कामना करते हुए ऋषि करते हैं—

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो वृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमो वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम् ॐ शान्तिःशान्तिःशान्तिः।

इस शान्तिपाठ में भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वर से भिन्न-भिन्न नाम और रूपों में उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थना की गयी है। समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक शक्तियों के अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओं के रूप में वे अन्तर्यामी परमेश्वर सब प्रकार से हमारे लिए कल्याणकारी हों। हमारे उन्नति के मार्ग में और अपनी प्राप्ति के मार्ग में विघ्न न आने दें। प्राण के रूप में समस्त प्राणियों में व्याप्त उन परमेश्वर की वायु के नाम से स्तुति करते हैं। हे वायुदेव तुम्ही प्राणियों के प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, अतः तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म के रूप में पुकारूँगा, तुम ऋतके अधिष्ठाता हो अतः ऋत नाम से, सत्य के अधिष्ठाता हो अतः सत्य नाम से कहूँगा। वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मेरी, मेरे आचार्य की रक्षा करें, वक्ता की रक्षा करें, समस्त प्राणिमात्र की रक्षा करें। इस प्रकार आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक तीनों प्रकार के विघ्नों का शमन हो जाय। चित्त को एकाग्र करने के लिए शान्ति अत्यन्त अपेक्षित है। इसीलिए ऋषियों ने सर्वतोभावेन शान्ति की कामना की है-

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। (*शुक्लयजुर्वेद*, 36.17)

अथर्ववेद के 3.30वें तथा 6.64वें सूक्त में सामनस्य सूक्त का वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य सायण ने **मिथः सप्रीतियुक्ताः मनुष्याः संमनुष्याः तैः निवर्तितं सामनुष्यम्।** अर्थात् मनुष्यों का परस्पर प्रीति के कारण इकट्ठे होने के भाव को सामनुष्यम् कहेंगे। भाव है—जो लोगों को प्रेम के कारण परस्पर साथ रहने को

प्रोत्साहित करे उसे सामनस्य कहते हैं। वस्तुतः इन सूक्तों में लोगों के हृदय में एक दूसरे के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम, द्वेष के स्थान पर मैत्री, ईर्ष्या के स्थान पर दया का भाव जागृत् करने का उपक्रम किया गया है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। *अथर्ववेद*, 3.30.1

हे मनुष्यों! तुम्हें मैं समान हृदय वाला, समान मन तथा द्वेषरहित बनाता हूँ। जैसे गाय अपने सद्यः उत्पन्न बछड़े को प्रेम करती है वैसे ही तुम आपस वे प्रेम करो। घर में भी एक दूसरे से शिष्ट व्यवहार होना चाहिए यथा–पुत्र आज्ञाकारी हो, माता पुत्रों के साथ अच्छा व्यवहार करे, पति–पत्नी के सम्बन्ध मधुर हों, भाई–भाई, भाई–बहन आपस में द्वेष न करें परिवार में सुमति हो—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यं चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ *अथर्ववेद*, 3.30.3

देवताओं की तरह मनुष्यों में भी सामञ्जस्य आ जाए—

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ *अथर्ववेद* 3.30.4

समाज या राष्ट्र में शान्ति और प्रगति का रहस्य एकता है। कहा भी गया है—**संघेशक्तिः कलियुगे।** इसी संघीय भाव को उत्पन्न करना राष्ट्रनायकों का परम कर्तव्य है। सामनस्य सूक्त भी इसी कर्तव्य का बोध कराता है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्त।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥

अथर्ववेद, 3.30.5

अर्थात् श्रेष्ठगुणों से युक्त साथ–साथ साधना करते हुए कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हुए तुम लोग अलग मत हो, मै तुमको समान कार्य में प्रवृत्त होने वाला तथा सफल मन वाला बनाता हूँ। तुम्हें समान करने से सामंजस्य एवं शान्ति उत्पन्न की जा सकती है–

समानि प्रपासह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रेसह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ *अथर्ववेद*, 3.30.6

तुम लोग सहभोगी, सहपथी, सहलक्ष्मी होकर एक साथ रहो। जैसे नाभि (धुरी) के चारों ओर तीलियाँ फैली रहती हैं उसी प्रकार तुम लोग भी चारों ओर फैलकर उसकी उपासना करों।

अथर्ववेद के 6वें काण्ड के 64 वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि आपके विचारतन्त्र समान हों, संगति एक सी ही हो। मैं आपके जीवन को एक ही मन्त्र से अभिभन्त्रित करता हूँ और एक समान आहूति प्रदान करके यज्ञमय बनाता हूँ। इससे तुम एक चित्त को प्राप्त करों। तुम्हारा संकल्प समान हो, अन्तः करण समान हो जिससे तुम्हारा साथ सुन्दर हो–

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वं॥ *अथर्ववेद*, 6.64.2

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

इसप्रकार स्पष्ट होता है कि यदि हमारा मन एक होगा परस्पर सामंजस्य होगा, हमारा मन शुभसंकल्पों से युक्त होगा तभी हम वैश्विक शान्ति स्थापित कर सकते हैं। जब हमारे मन में किसी प्रकार की विकृति नहीं आयेगी, प्रकृति का उपभोग हम त्यागपूर्वक करेगें। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** तभी हम समाज, देश और विश्व को सुदृढ़ बनाकर विश्वशान्ति स्थापित कर सकेगें। ॐ शान्तिःशान्तिःशान्तिः।

असिस्टेंट प्रोफेसर
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज
वाराणसी।

वैखानसागमीयमन्त्रविमर्श

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

भारतीय विचारधारा का सशक्त तथा सार्थक तत्त्व 'मन्त्र तत्त्व' है। प्राय: सभी धर्मों में मन्त्र-शक्ति की महत्ता स्वीकार की गयी है। ग्रीक, इटली तथा मिस्र आदि देशों में मन्त्र विद्या के प्रमाण प्राप्त होते हैं। '*नेशन्स ऑफ वर्ड*' में अफ्रीका की आदिम जातियों के मध्य भी मन्त्रों के प्रयोग का विवरण मिलता है। भारतीय जीवन पद्धति में मन्त्र-शक्ति का साम्राज्य सर्वत्र दिखलायी पड़ता है। निगमागम परम्पराओं में मन्त्र-मातृकाओं का प्रभाव सुस्पष्ट है। तन्त्रविधान में तो मन्त्र ही मुख्यमन्त्री होता है।

वैखानस शब्द विखनस् अथवा विखना से निष्पन्न है। इसका अर्थ है विखनस् अथवा बिखना से सम्बद्ध। इस प्रकार वैखानस शब्द संज्ञा होने पर भी विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—वैखानस आगम, वैखानस दर्शन, वैखानस दिव्यदेश और वैखानस समाज आदि।

वैखानसागम में लक्ष्मीविशिष्ट नारायण की उपासना होती है। इसलिए इनका अभिमत लक्ष्मीविशिष्टाद्वैत कहलाता है। भगवान् विष्णु ने ही विखनारूप धारण कर वैखानस धर्म का उपदेश दिया और इन्होंने ही विष्णुप्रोक्त जिन वैष्णव सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया। वे ही वैखानस आगम के नाम से प्रसिद्ध हुए—

वेदान्ततत्त्वमीमांसाखननं कृतवान् हरि:।
नाम्ना विखनसं चक्रे तत्पदान्वर्थयोगत:।

वैखानस आगम के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि विखनस के शिष्यों में—

कश्यपोऽत्रिर्मरीचिश्च वशिष्ठोऽङ्गिरसो ह्यहम्।
पुलस्त्य: पुलहश्चैव क्रतुश्च नवसंख्यका:।।
एते विखनस :शिष्या लोकानुग्रहकारिणा।

ये नौ थे। इन शिष्यों में मात्र मरीचि, अत्रि तथा भृगु के साहित्य उपलब्ध होते हैं।

वैखानस सम्प्रदाय से सम्बद्ध वैष्णवों के लिए प्रचलित क्रिया-कलापों के निष्पादन में शुद्ध रूप से वैदिक मन्त्रों का विधान है। इसीलिए वैखानसों के यहाँ पाञ्चरात्रिकों की भाँति कहीं भी हुम् तथा फट् आदि तान्त्रिक मन्त्रों का विनियोग नहीं मिलता है। यही दोनों सम्प्रदायों में अन्तर है। वैखानस ग्रन्थों में पाञ्चरात्रादि

आगमों की तरह मातृकाचक्र या मन्त्रोद्धार के लिए कोई विशेष विवरण नहीं मिलता, तथापि मन्त्र से सम्बद्ध विषय पर कुछ विचार निश्चित रूप से प्राप्त होते हैं। *वैखानस गृह्यसूत्र* में साम्प्रदायिक अष्टाक्षरी तथा द्वादशाक्षरी मन्त्रों का जप-विधान विहित है—**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो नारायणाय।**[1]

जैसाकि हम पूर्व में कह आये हैं कि वैखानस आगम में मातृका का विशेष विवरण नहीं मिलता फिर भी प्रतिमा-प्रतिष्ठा के अवसर पर विग्रह में मातृकान्यास का विधान प्राप्त होता है। इसका स्वरूप अधोलिखित है—

नादयुक्तं सुसन्न्यस्य राजमन्त्रेण वेष्टयेत्।।
अकारं मस्तके पश्चादाकारं मुखवृत्तके।
इकारं दक्षिणे नेत्रे ईकारं वामनेत्रके।।
उकारं दक्षिणे कर्णे वामे धान्यं तथैव च।
ऋकारं दक्षिणपुटे नासिकायाश्च वामतः।।
अन्यं तद्गण्डयोः पश्चात् ललृकारौ क्रमेण तु।
एकारमुदरे न्यस्य ऐकारं मूर्ध्नि एव च।।
दन्तयोरुभयोः पार्श्वे ओकारौकारकौ तथा।
शिरस्यङ्कारमेवं स्याज्जिह्वायां सविसर्गकम्।।
स्वरान् क्रमेण विन्यस्य पश्चात्तद्दक्षिणे करे।
कवर्गमितरे हस्ते चवर्गं सन्षु न्यसेत्।।
टवर्गं दक्षिणे पादे वामपादे तवर्गकम्।
पार्श्वयोरुभयोः पश्चात् पकारद्वयमेव च।।
पृष्ठे बकारं जठरे भकारं हृदये ततः।
मकारं कुक्षिमध्ये नु यकारं बाहुमूलतः।
रकारं तु गले चैव वामबाहौ वकारकम्।
पाणिना स्पृशताद्यश्च शकारं वक्रदक्षिणे।
वामभागे षकारं स्याद्हृदयादूर्ध्वतः क्रमात्।
परहस्ते विशेषेण सकारं दक्षिणे पुनः।।
हकारमितरे हस्ते स्पृशता पाणिना बुधः।
कूर्चस्याग्रेण वा पश्चाल्लकारं जठरे न्यसेत्।।
क्षकारं मस्तके न्यस्य मूर्ध्नि चान्यं न्यसेत्क्रमात्।
वर्णाधिपाँस्तान् ध्यात्वैवं सनादप्रणवैर्युतान्।।[2]

यहाँ स्पष्ट रूप से अकार से क्षकार तक तथा सिर से पैर तक मातृकान्यास की स्थिति कही गयी है।[3]

महर्षि मरीचि ने अपने ग्रन्थ में '**अथातो मन्त्राणां कल्पं व्याख्यास्याम:**' इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ मन्त्र विषय पर गम्भीरता से विचार किया है। महर्षि का मानना है कि '**ओमिति ब्रह्म**' इस श्रुतिसम्मत आधार पर मन्त्रों का प्राण 'प्रणव' ब्रह्मस्वरूप है। अस्तु, सारा संसार प्रणव से पृथक् नहीं है। ईश्वर ही प्रणव के रूप में जाना जाता है। प्रणव को त्र्यक्षर—अकार, उकार तथा मकार—स्वीकारा गया है। तीनों क्रमश: ऋग्, यजुष् तथा साममय है। ये क्रमश: सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण बताए गए हैं। इनके वर्ण श्वेत, पीत तथा कृष्ण हैं। **भूर्भुव:** तथा **स्व:** में तीनों की स्थिति वर्णित है। विष्णु, ब्रह्मा और शिव तीनों के देवता है। तीनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए, अकार को वलयाकार, उकार को कुटिलाकार तथा मकान को बिन्दु-नाद बताते हुए तीनों को प्रणव का लिपि-अंश कहा गया है। अकार, उकार के गुण के अनन्तर संयोग से ओकार बिन्दुनाद संयोग से प्रणव का ॐ—यह रूप है।[4] प्रणव के प्रजापति ऋषि गायत्रीछन्द तथा ब्रह्मा अधिदेवता है।[5] इसका गोत्र अथर्वन् है।[6]

प्रणव के अंशभूत लिपि आदि के विवेचनोपरान्त महर्षि मरीचि प्रणव के स्वरूप पर विचार करते हुए कहते हैं कि प्रणव का वर्ण पीत है। यह सहस्रशीर्ष, सहस्रबाहु, सहस्राक्ष, सहस्रोदर, सहस्रपाद, ऊर्ध्वकेश, रक्तास्य-पाणिपाद, शुकपिच्छाम्बरधर है। विष्णु जीवात्मा ब्रह्मा, बुद्धि, ईश, कोप, चित्त, सोम, अतलादि सात पाद। भुजंग, अंगुलियाँ, नदियाँ, अप्सराएँ, भूरादि सात लोक कुक्षि है। वसु नाभि, महाण्ड बहिरण्ड तथा वैष्णवाण्ड शीर्ष अग्निष्टोमादि यज्ञ केश, व्योम ललाट, भ्रुवी, मेघा, चन्द्र और अर्क दोनों नेत्र, शुक्र तथा बृहस्पति दोनों कान, अश्विनीकुमारद्वय नासिका, वायु दन्त, सरस्वती जिह्वा, दोनों संध्या के नित्याग्निहोत्र ओष्ठ, सभी अग्नियाँ वदन, शचीपति ग्रीवा, दिशाएँ बाहु, सभी रुद्र सन्धियाँ, नक्षत्रगण अंगुलियाँ, तारागण नख, मित्रावरुण वृषण, प्रजापति उपस्थ, मरुत् पृष्ठ, पर्वत अस्थियों, मन्दर मांस, ओषणियाँ शोणित, प्रलयशिरा नदियाँ, समुद्र मूत्रकोश, काञ्चन पुरीष अमृत रेतस्, लोकालोक त्वक्, ऋषिगण रोमकूप, वर्षा स्वेद, सर्वोषधियाँ वसन, वेदेतिहास आभरण, सृष्टि स्थिति तथा संहार क्रीडा कल्पव्याकरणनिरुक्तादि चतु:षष्टि कलाएँ व्याख्यानरूप बताए गए हैं। महर्षि मरीचि का अभिमत है कि बहुत भाषण से क्या? सम्पूर्ण संसार और सृष्टि को प्रणव से पैदा हुआ मानकर यथाशक्ति प्रणव का जप करना चाहिए। प्रणव को एकमात्र या त्रिमात्र रूप में सभी मन्त्रों के जपारम्भ में तीन बार उच्चारित करना चाहिए। समाप्ति में भी यही विधान है। प्रणव के बिना सभी जप नष्ट हो जाते हैं। अस्तु, प्रणव के बिना कोई अन्य मन्त्र नहीं है।[7]

महर्षि काश्यप द्वारा प्रणीत *वैखानस आगम* के ज्ञानकाण्ड के अष्टाक्षर कल्प में प्रणव का वर्णन आया है। महर्षि मरीचि की अपेक्षा कई बातों में समानता रहते हुए भी कुछ बातें इस तन्त्र से अधिक स्पष्ट है, जैसे—इसमें मन्त्र की उत्पत्ति साक्षात् विष्णु के मुख से मानी गयी है। वह इनके (विष्णु के) मुख से च्युत है, अर्थात् इसके नि:सरण में स्वाभाविकता है, आयास नहीं। यहीं इसे पर से भी पर आदिबीज माना गया है। इसे

एक स्वरूप भी प्रदान किया गया है। यह पद्मासन में स्थित है। इसका मुकुट जाज्वल्यमान है। यह सुन्दर अलंकारों से युक्त है। शंख, कृपाण, शक्ति, धनुष, पाश, हल तथा मुसल इसके हाथों में है। यह धन तथा श्री प्रदान करने वाला एवं स्फीतवाक् माना गया है। सभी देवताओं द्वारा वन्दित है। इस प्रकार *यजुर्वेद* में वर्णित पुरुष के आकार से इसके आकार की तुलना के साथ-ही-साथ इसका आसन आदि के द्वारा आगमिक स्वरूप भी प्रतिपादित है।[8]

इसी भाँति श्रीमन्नारायण से प्रणव की एकता बताते हुए यह भी प्रतिपादित किया गया है कि 'अ' परब्रह्म का द्योतक है। 'उ' लक्ष्मी का द्योतक है तथा 'म्' जीवात्मा का बोध कराता है। इस प्रकार तीनों समवेत रूप से 'प्रणव' के ही द्योतक है कि जिस प्रकार 'पश्यक' से 'कश्यप' तथा 'हिंस' से 'सिंह' शब्द की व्युत्पत्ति बाह्य होती है, उसी प्रकार 'प्रणव' से वर्णव्यत्यय द्वारा 'प्रणव' शब्द की सिद्धि होती है अर्थात् नारायण में सर्वतोभावेन प्रवाहित होने के कारण 'प्रणव' नारायण ही है।[9]

महर्षि अत्रि ने भी ॐ को एकाक्षर ब्रह्म माना है। ऐसी मान्यता है कि विष्णु के परमपद को प्राप्त करने की कामना करने वाला व्यक्ति 'ॐकार' रूपी रथ पर चढ़कर तथा अपने मन को सारथी बनाकर इस दिव्य ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। इसे त्रिस्वभाव तथा त्रिरात्मा भी कहा गया है। बल, वीर्य तथा तेज—ये इसके त्रिरात्मक रूप है तथा कर्म, अनुग्रह और ध्यान—ये इसके त्रिस्वभाव है। इस प्रकार विष्णु त्रिव्यूह है और प्रणव उनका वाचक है।[10] इस तरह प्रणव सर्वव्यापी परमात्मा का ही स्वरूप माना गया है और इसकी उपासना से मनुष्य को सभी सिद्धियाँ प्राप्तव्य बतायी गयी है।

अष्टाक्षर मन्त्र का स्वरूप 'ॐ नमो नारायणाय' है। इसमें ॐ आदि बीज है। नकार 'कपिल' को अधिदैवत रूप में कहा गया है। यह ज्ञानप्रद तथा पाश का सर्वथा छेदन करने वाला है। इसका स्वरूप तीन सिर, छः भुजाएँ, रक्त वर्ण, लम्बी दाढी तथा ह्रस्व नाद माना गया है। विरञ्चि को मकार का देवता माना गया है। इनको श्वेत वर्ण, शान्तरूप, दो भुजाएँ, रक्तकमल पर विराजमान जटा-वल्कलधारी के रूप में कल्पित किया गया है। इनका नाद दीर्घ है। अग्रिम नकार का अधिदेवता प्रजापति है। इसका वर्ण धूम्र है चार भुजाएँ हैं। चतुर्मुख, दाढी से युक्त कमल की माला धारण किए है, स्फटिक आसन पर आसीन है। इनका नाद प्रांशु है। रकार का अधिदैवत रूप अग्नि है। इसका आकार वह्निशिखा के सदृश है। श्यामवस्त्र में पुरुषरूप धारी इनका नाद स्वरित है। यकार शक्ति का प्रतीक है। यह प्रकृति से उत्पन्न होने वाला श्रीस्वरूपयुक्त, कन्धे पर स्वर्णकुम्भ धारण किये हुए श्वेतवस्त्रधारी दो भुजाओं वाला तथा अनुदात्त नाद वाला है। यह सभी खजानों से घिरा हुआ, तीन रत्नों से युक्त, दिव्य ऐश्वर्यो को प्रदान करने वाला और धन-सम्पत्ति से दरिद्रतारूपी अन्धकारों को नाश करने वाला है। यही परमात्मा का शक्ति-स्वरूप है, ऐसा आचार्यों का कहना है। णकार का आधिदैविक रूप आत्मा है। यह क्षेत्रज्ञ से उत्पन्न होता है। गोदुग्ध के समान इसकी आभा है। चतुर्भुज रूप वाला यह पुरुष है। अन्तिम प्रकार का आधिदैविक रूप प्राण है। यह निष्कल ध्यानरूप से सुशोभित, ह्रस्वनाद

वाला, सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला, पृथ्वी में सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार अष्टाक्षर मन्त्र की उपासना आधिदैविक रूप में की जाती है।[11] ज्ञातव्य है कि इसके आठ अक्षर प्रणव को लेकर ही पूरे होते हैं। अत: प्रणव आदिबीज के रूप में इन सभी अक्षरों में अनुस्यूत है। इस मन्त्र के आठ अक्षरों में परमात्मा अर्थात् नारायण की व्याख्या की गयी है। जिसका शरीर न होते हुए भी गति है, वह देव परमात्मा नारायण है। 'परमात्मा एवं पारमात्मिक' कहकर पारमात्मिक भी कुछ लोग कहा करते हैं। इन अष्टाक्षर के अधिदेवता नारायण है, गायत्री छन्द है, ऋषि सांकृत्यायन है। यह मन्त्र स्वयं ही पाँच अङ्गों वाला है। यह परमात्मा सभी सिद्धियों का प्रदाता है। मनुष्य लोग इसे श्रीकरम् अर्थात् मङ्गल करने वाला कहते हैं। विष्णु की मन में भावना करके भक्तिपूर्वक निश्चल होकर प्रणवान्वित अष्टाक्षर मन्त्र का यथाविधि जप करना चाहिए।[12]

किसी भी जप में सम्प्रदायानुरूप न्यास का विधान किया जाता है। न्यास का अभिप्राय है मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को साधक के अङ्ग-प्रत्यङ्गों से परिकल्पित कर मन्त्र के स्वरूप की मानसिक परिकल्पना करना। इससे एक ओर मन शुद्ध तथा केन्द्रित होता है और दूसरी ओर साधक अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को मन्त्र के लिए समर्पित करता है। 'काश्यप' के ज्ञानकाण्ड में प्रणव के साथ अष्टाक्षर मन्त्र के न्यास का विधान बताया गया है। प्रणव स्वयं मननात्मक होने के कारण मन्त्र है। इसका न्यास तीन प्रकार का माना गया है—सृष्टि, स्थिति तथा संहृति। सृष्टि की स्थिति से प्रणव सर्वप्रथम मूर्ध पर न्यास करके इसके पश्चात् क्रमश: ललाट, नेत्र, नासिका, जिह्वा, हृदय, नाभि, गुह्य, चरणादि स्थानों पर न्यास किया जाता है। वे अष्टाक्षर न्यास सृष्टिन्यास कहे जाते हैं। इसके विपरीत प्रणव के न्यास का आरम्भ करके विपरीत क्रम से मूर्धा तक अष्टाक्षर न्यास को संहृतिन्यास कहते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम जठर में प्रणव का न्यास कर दूसरी बार दोनों पैरों में, तीसरी बार दोनों भुजाओं में, चौथी बार हृदय में, पाँचवीं बार दोनों नेत्रों में छठी बार सिर पर, सातवीं बार मुख पर और आठवीं बार दोनों कानों पर आदि से अन्त तक प्रणव-युक्त अष्टाक्षरों का विन्यास स्थितिन्यास कहलाता है। इस प्रकार प्रणव से सूक्ष्म रूप में आविर्भूत होने वाली तथा उसीमें स्थिति रहकर पुन: उसी (प्रणव) में तिरोहित होने वाली सृष्टि-प्रक्रिया के संपादन द्वारा साधक जीवन-वृत्त से अपने को उन्मुक्त करता है।[13]

यहाँ मन्त्र के अधिकारी-भेद पर भी विचार किया गया है। इस मन्त्र को स्त्री, शूद्र, अनुपेत तथा अशिष्य (जो एक वर्ष तक साथ में न रहा हो), को नहीं देना चाहिए, अन्यथा मन्त्र-दान निष्फल हो जाता है।[14]

प्रणव के विस्तृत विवेचनोपरान्त महर्षि मरीचि ने 'अथ सावित्रीकल्पम्' इस कथन के साथ गायत्री मन्त्र पर गहन विचार करते हुए श्रुतिसम्मत गायत्री को चतुर्विंशत्यक्षरा कहा है। गायत्री का सविता देवता होने के कारण इसे सावित्री भी कहते हैं। इसके विश्वामित्र ऋषि गायत्री छन्द और सविता अधिदेवता है।[14] 'त्रिपदा गायत्री' अष्टाक्षरा तथा चतुष्पदा गायत्री षडक्षरा मानी गई है। जप के विधान में त्रिपदा तथा अर्चनक्रम में चतुष्पदा स्वीकृत है।[16]

गायत्री का स्वरूप अग्निवर्ण, षट्कुक्षि, पंचशीर्ष, शुक्लमुख, कमलेक्षण, ऋग्वेद प्रथमपाद, यजुर्वेद द्वितीयपाद, सामवेद तृतीयपाद है। पृथ्वी चरण, पर्वत ऊरु, अम्बर अस्थि, पूर्व दिशा पहली कुक्षि, दक्षिण दिशा दूसरी कुक्षि, पश्चिम तीसरी, उत्तर चतुर्थी, ऊर्ध्व पञ्चमी और अध: षष्ठी कुक्षि कथित है। पुराण आन्त्र, जगतो दिव्यरूप, आकाश उदगन्तर छन्दस् स्तनद्वय, धर्मशास्त्र जिह्वा, न्याय बाहु, गिरा ग्रीवा, शब्दशास्त्र प्रथम शिर, शिखा द्वितीय, कल्प तृतीय, निरुक्त चतुर्थ तथा ज्योतिष पञ्चम शिर माना गया है। अनल मुख, इन्दुमण्डल वदन, वायु श्वसन, नक्षत्रपंक्ति अलका, सहस्रकिरण मौलि, तारा कुसुम, नक्षत्रमाला हार, सभी ग्रह रत्नविभूषण, ब्रह्मा मूर्धा, शिव शिखा, विष्णु आत्मा, वेदान्त विमल मन, वेद प्राण तथा मीमांसा चित्र रूप में चित्रित है।[17]

इसी स्थल पर प्रणव रूप गायत्री का ध्यान तीन तरह से बतलाया गया है। पूर्व संध्या में कौमारी रक्तवर्णा, हंसवाहिनी, अक्षसूत्र-यज्ञोपवीत-कमण्डलु-धारिणी, ब्रह्मदैवत सावित्री नामक गायत्री का ध्यान किया जाता है। इनका आवास वह्नि में होता है। मध्य संध्या में यौवनी, रुद्राक्ष-अर्धचन्द्रशूलधारिणी, श्वेतवर्णा, वृषभवाहिनी, रुद्रदैवत गायत्री नामक गायत्री का ध्यान मान्य है। इसका वास अन्तरिक्ष में है। सायं सन्ध्या में लक्षणयुक्त श्यामवर्णा, सर्वाभरण-भूविता, शंखचक्रधारिणी, गरुडवाहिनी विष्णुदैवत सरस्वती नामक गायत्री का ध्यान विहित है। इसका वास स्वर्ग में है। त्रिकाल सन्ध्या में तीनों रूपों का ध्यान क्रमश: ध्यातव्य है।[18]

इसके अनन्तर गायत्री के अक्षरन्यास (पादादिमूर्धान्त चौबीस अङ्गों में) वर्णों के रूप, उसके देवता तथा उनके फल का विस्तृत विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है—

क्र.	अङ्ग	अक्षर	स्वरूप	देवता	फल
1.	पादाङ्गुष्टौ	तत्	पीत्ताभ	ब्रह्म	महापातकनाश
2.	अङ्गुलद्वय	स	श्यामाभ	प्रजापति	उपपातकनाश
3.	जङ्घाद्वय	वि	पिङ्गलाभ	सौम्य	महापातकनाश
4.	जानुद्वय	तु:	नीलाभ	ईश्वर	दुष्टपापग्रहरोगाद्युपद्रवनाश
5.	ऊरुद्वय	व	वह्निवर्ण	सौम्य	भ्रूणहत्यादिदोषनाश
6.	गुह्यदेश	रे	ज्वालारूप	बृहस्पति	आगम्यागम्यनपापनाश
7.	वृषण	णि	विद्युन्निभ	इन्द्र	अभक्ष्यभक्षण-दोषनाश
8.	कटिदेश	यं	हेमाभ	वैष्णव बीज	ब्रह्महत्यादि-सर्वपापनाश

9.	नाभि	भ	कृष्णाभ	अर्यमा	पुरुषहत्यादिपापनाश
10.	जठर	र्गो	रक्ताभ	सविता	गोहत्यादिपापनाश
11.	स्तनद्वय	दे	श्यामाभ	त्वष्टा	स्त्रीहत्यादिपापनाश
12.	हृदय	व	श्वेताभ	पूषा	गुरुहत्यादिपापनाश
13.	कण्ठ	स्य	स्वर्णाभ	इन्द्र	कूटकृतपापनाश
14.	वदन	धी	पद्मसंकाश	वायु	अभक्ष्यभक्षणदोषपापनाश
15.	तालु	म	पद्मरागाभ	वायु	जन्मान्तरकृतपापनाश
16.	नासाग्र	हि	श्वेताभ	मित्रावरुण	सर्वपापनाश
17.	चक्षुर्द्वय	धि	पुण्डरीकाभ	प्रजापति	प्रतिग्रहदोषनाश
18.	भ्रूमध्य	यो	कपिलाभ	विश्वदेव	प्राणिहिंसापापनाश
19.	ललाट	यो	कपिलाभ	विष्णु	दुष्टपापनाश
20.	ललाट पृ.	नः	आदित्यवर्ण	इन्द्र	इन्द्रलोकप्रद
21.	ललाट द.	प्र	नीलश्याम	रुद्र	ईश्वरलोकप्रद
22.	ललाट प.	चो	पीत वर्ण	ब्रह्मा	ब्रह्मलोकप्रद
23.	ललाट उ.	द	शुद्धस्फटिक रूप	विष्णु	विष्णुलोकप्रद
24.	मूर्धा	यात्	हेमाभ	चतुर्मुख	सर्वसिद्धिप्रद

इस प्रकार मरीचि ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से गायत्रीमन्त्र का स्वरूप दिखलाया है और कहा गया है कि तीनों संध्याओं में इसका जप किया जाना चाहिए। सावित्री-अध्ययन से आयु, श्री, ब्रह्मवर्चस्, प्रजासमृद्धि और धनधान्यवृद्धि होती है। यह ऐहिक और आयुष्मिक फलदायक है। मन्त्र-जाप करने वाला इस लोक में अभीष्ट प्राप्त कर अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है।[19]

महर्षि मरीचि ने मन्त्रों, ऋष्यादिकों के स्मरण की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि सभी मन्त्रों में प्रत्येक के ऋषि, छन्द तथा देवता का ध्यान कर ही उसका उच्चारण करना चाहिए, नहीं तो मन्त्र-जप निष्फल हो जाता है, उसे असुर ग्रहण कर लेते हैं।[20] महर्षि ने सन्ध्योपासना के उपयोग में आने वाले मन्त्रों के

ऋष्यादि का विस्तार से वर्णन किया है। यथा—'सावित्री' मन्त्र के विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द तथा सविता देवता वर्णित है।[21] ऋषि आदि की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका मानना है कि प्राय: सभी मन्त्रों का ऋषि अन्तर्यामी, छन्द गायत्री एवं नारायण देवता होता है।[22]

वैखानसागम में प्रयुक्त मन्त्रों के प्रयोग के विषय में अपेक्षित अन्य बातों की चर्चा भी आवश्यक है। वैखानसागम-संहिताओं में वैदिक ऋचाओं, सूक्तों तथा सामगान का प्रयोग विविध क्रियाओं के अवसर पर दृष्टिगोचर होता है। विशेष रूप से इन मन्त्रों का प्रयोग प्रतिष्ठादि विविध उद्देश्यों के अवसर पर देखा जाता है। विमानार्चनकल्प का इकतालीसवाँ पटल नित्यार्चनविधि के लिए समर्पित है। यहाँ मन्त्रस्नान, आचमन, प्राणायाम, सावित्रीजप, सन्ध्याविधि, देवतातर्पण द्वारा ब्रह्मयज्ञ करना वर्णित है। तत्पश्चात् 'प्रतद्विष्णुस्तपत' मन्त्र द्वारा देवालयगमन से आरम्भ कर विग्रहाराधन की सम्पूर्ण प्रक्रिया विविध मन्त्रों द्वारा सम्पन्न कर 'सूर्यस्त्वे' इस मन्त्र द्वारा कपाट बन्द होने तक की पूरी विधि वर्णित है।[23] समूर्तार्चनाधिकरण में न्यूनाधिक्य रूप में यही क्रम निर्दिष्ट है।[24]

सन्दर्भ

1. वैखानसस्मार्तसूत्र, 1/9/4/12
2. यज्ञाधिकार 29/27-40, अर्चनाधिकार 22 : वासाधिकार 16
3. यज्ञाधिकार 22/29-40, अर्चनाधिकार 22
4. विमानार्चनकल्प, पटल 83
5. विमानार्चनकल्प, पटल 82
6. विमानार्चनकल्प, पटल 83
7. विमानार्चनकल्प, पटल 83
8. अथातोऽष्टाक्षरकल्पं अयं मन्त्र: साक्षाद्विष्णुमुखात् च्युत:। ॐकार: प्रथममादिबीजं परमात्मिकं तरुणार्कवर्णं सहस्रशीर्षं सहस्राक्षं सहस्रबाहु: सहस्रपात् श्रीवत्सालङ्कृतोस्कं शङ्खासिशक्तिसारङ्गपाशूल-मुसलयुतं वसुप्रदं जाज्वल्यमानमुत्कुटं दिव्याभरणमण्डितं पद्मासनस्थितं दीर्घनादं सर्वदेवनमस्कृतं परमपुरुषाधिदैवम् एतन्मन्त्रं प्रमाणमिति विज्ञायते— *काश्यपज्ञानकाण्डं* अध्याय 106, पृ. 172
9. *आगमकोश*, भाग 3, *वैखानस आगम*, पृ. 113 (प्रकाशित कल्पतरु रिसर्च अकादेमी, बंगलौर)
10. समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध (क) तृतीयाध्याय, पृ. 481-82
11. ज्ञानकाण्ड, अध्याय 107
12. ज्ञानकाण्ड, अध्याय 108
13. ज्ञानकाण्ड, अध्याय 108
14. ज्ञानकाण्ड, अध्याय 107

15. विमानार्चनकल्प, पटल 82
16. विमानार्चनकल्प, पटल 84
17. विमानार्चनकल्प, पटल 84
18. विमानार्चनकल्प, पटल 84
19. विमानार्चनकल्प, पटल 84
20. विमानार्चनकल्प, पटल 81
21. विमानार्चनकल्प, पटल 82
22. विमानार्चनकल्प, पटल 81
23. विमानार्चनकल्प, पटल 41
24. समूर्तार्चनाधिकरण, अध्याय 40

आचार्य,
धर्मागम विभाग
संस्कृतिविद्या धर्म-विज्ञान सङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

दूरभाष : 9452823899

The Seven Steps to *Bhūtaśuddhi*

Geetha Padmanabhan

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवन्ति विश्वम्॥ –*मुण्डकोपनिषद्*

As the spider produces the thread and absorbs it again, as herbs grow on earth, and hair come out spontaneously from man, even so does the creation spring forth from the Imperishable.

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ –*मुण्डकोपनिषद्*

That alone is the Truth, From a blazing fire shoot out thousands of sparks of the same appearance, so do the various beings originate from that Imperishable brahmam and unto it they verily merge back again.

One became many and many should again merge back into that One. How? The most ancient *Sanātana dharma* is based on *Vedās*, and *Śastrās*. The essence *Vedās* is given in one form as *Gāyatri Mahāmantra* and in another as *Vidyā* or *Śrividyā Pancadaśākshari. Gāyatri Mahāmantra* and her *upāsanā* is given only to the ordained few. Similarly, the most superior *TripuraSundarī vidya* or *Sundari Vidyā* or *Śrividyā* is the supreme *Vidyā* of *Śhakta Tantra is* known and practised only by the blessed few. *Śrīvidyā* is talked about in a codified way in the Vedas,

स्तुतो मया... कामो योनिः कमला वज्रपाणी गुहाहिसा...
चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तः।

According to *Śhākta*. principles, the creation is the interplay of the *Sat* and *Cit*. The *Nirguṇa Nirākāra brahmam* that *Sat* by its *Mayā Śhakti*

Cit creates the entire creation. 'शिवशक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्' Without that *Māyā Cit,* the *Sat* is just the inert matter in scientific terms. Unless and until the *Māyā Cit Śakti* acts the creation does not evolve. *Ṣruśti* and *Samhāra* are eternal. From that One emerges many and those many merges back unto that One again. This is *Prapanca līla*. It is the play of the Divine mother - लीलाविनोदम्. In scientific terms the matter transforms itself as energy and action begins.

निरुपाधिकसंविदेव कामेश्वरः सदानन्दपूर्णः स्वात्मैव परदेवता ललिता॥ – *भावनोपनिषद्*
सत् – शिवः – निर्गुण – प्रकाश शक्तिः – शिवः– कामेश्वरः
प्रपञ्च लीला – सृष्टिः
चित् – शक्तिः – सगुण – विमर्श शक्तिः – ललिता – कामेश्वरी

Tripura Sundarī is the Divine Mother of the entire creation. The combination of matter and energy is well delineated in *Traipura siddānta*. The *Ātmasupraṇa* in the *Paramaeśvara* by the *Mayā Śakti* of the divine Mother starts the evolution and the creation based on *dharmādharma*, in the form of *kārya kāraṇātmaka prapancha*. When *Sundarī* desires, she starts the creation from that single Bindu, the still centre and manifests as many. From that dot- *bindu* emerges the three *bindus icchā, gyanā, and kriyā śakti* They form the *mūla trikoṇa*, the primordial triangle. The cental *bindu* of the triangle is the seat of the *Parāmatrukā*. This *trikoṇa* has *trirekā* and surrounded by the fifteen *swaraksharās* with अः as the central bindu, the seat of the *ŚivaŚakti*.

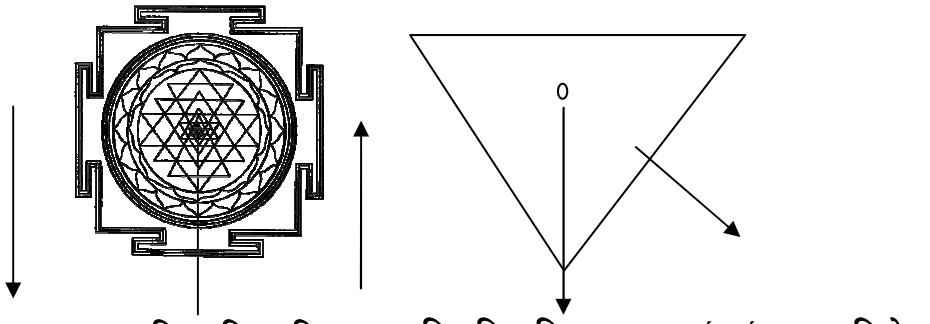

ब्रह्माण्ड महा बिन्दु परशिव पिण्डाण्ड बिन्दु शिवशक्ति The seat of *ŚivaŚakti*. मूलत्रिकोण

Thus, it is clear that Sri chakra is the manifestation of *brahmanda* and the *Pindanda*. From the *Mahābindu* to *Bhūpuram* is *Brahmāṇdam* and from *Bhūpuram* to*MahāBindu* is *Pindāṇd*a. The *Arādhanā* to *Śrīyantra* is *ŚrīVidyā* . It is the *Vidyā,* praised in the vedas, meant one and only for those blessed by the Supreme Divine.

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणि।
स्पुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः॥ *योगिनी हृदयम्*
चक्रं शक्ति समूहः तस्य संकेतः रहस्यं रूपम्।
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी सैवाहं न च दृश्यवस्तु

For the *jīva*, in the gross sense, his own body is the *Śricakra* . In the subtle, the mind that is completely inward and devoid of all negativities is the *Śricakra* . How is the *upāsanā* of this supreme *Śrīyantra* performed and who is eligible and what is the eligibility creiteria? When one talks of eligibility अधिकारित्वम्, for Vedās, and Sāstras, traditional *vārnasrama* and śiṣṭācāra rules are adhered to . Similarly *Śrīvidyā* has its own tradition. In this *Saparya*, the *mantra*, the *yantra*, the *tantra* along with the blessings of the Guru is that which leads the *Sādaka* to the goal. Here वर्णभेदं लिङ्गभेदं आश्रमभेदम्ं varṇabhedam, linga-bhedam, Āśramabhedam are immaterial. The faith in the divine *TripuraSundarī* and her मन्त्रज्ञानं, यन्त्रज्ञानं, तन्त्रज्ञानम्, गुरुमुखम्, ie the knowledge or the desire for the knowledge of her mantra, yantra, tantra handed down through a *Guru* is the most important prerequisite. Guru in *Śrīparamparā* is none other than *TripuraSundarī* Herself descended in human form. His/Her guidance alone will guide and lead the *Sādaka* .

मन्त्रं वर्णात्मकं, यन्त्रम् श्रीयन्त्रम्, तन्त्रम् शाक्तम् ।

मन्त्रम्	अनन्त कोटि - मुक्य- बाला, नवाक्षरी,पञ्चदशी,षोढशी
यन्त्रम्	प्रधानं श्रीयन्त्रम्
तन्त्रम्	शाक्तम्
अधिकारित्वम्	मन्त्रज्ञानं, यन्त्रज्ञानं तन्त्रज्ञानं गुरुमुखम्

No doubt 'अन्तर्मुखसमाराध्या बहिर्मुखसुदुर्लभा' says *Lalitā Sahasranāma*. But without the outward discipline to control and steady the mind, fully focussed on the divine *Sundarī*, the inward oriented *mānasa pujā* is well neigh impossible. So, while the *upāsaka* is doing the *bhaya pujā*, on a simultaneous level, he starts realising the true meaning and purport of the entire process of *Pujā Paddati* and *samketa*. The purport of any *Pujā* especially in *Śrividyā Saparyā* is 'जीवब्रह्म ऐक्यम् ' देविसायुज्यं the merger with that ultimate Divine Mother. ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्।। 'निर्द्वैता द्वैतवर्जिता ' is to achieve the non-dualistic state of divine *Sāyujyam*. Her *Saparyā Sādhanā* is approached in three ways.

परा चाप्यपरा गौरी तृतीया च परापरा।
प्रथमाऽद्वैतभावस्था सर्वप्रचयगोचरा॥ *योगिनी हृदयम्*

When there is no dualistic state it is *Parā*, if not fully in the advatic state of non-dualism it is *Aparā*,, while dissolving the persisting dualistic state by means of *Abhyasa* or *Sādhanā* it is the state of *Parāparā* .

परा	अद्वैत भावना
अपरा	द्वैतभावना
परापरा	अद्वितियभावनात्मकाचिकिर्षा

Śrīvidyā is practised in two ways *Vaidikam-Dakshinam* or *Samayam,* or *Tāntrikam- Vāmam* or otherwise called *Kaulam*. The first has been practised by Bhagavatpada Śri Adi Sankara, Lakshmi dhara, Gaudapādacarya etc follows the granthas like *Sowbhāgya Chintamani*, *Dakshināmurti Samhita*, *Sanatkumara Samhita* etc in their *PujāPaddhati*. While the other path has been chosen by such eminent scholars of *Śākta Paramparā* such as Paraśurama, Bhaskararaya, Umananda natha etc. They follow *Paraśurāma Kalpasutram, Nityotsavam, Sowbhāgya Ratnākaram, kalpadrumam* etc. *Laitā Sahasranāmam, Sowbhāgyabhāskaram* is most dear to all. There are also many who practise *Miśramārga*. Chosen path might vary, practises

may differ but all roads lead to Devi *Sālokyam, Sārupyam, Samīpyam* and *Sāyujyam.* We, myself and my husband belong to the tradition of Sowbhagya Cintamani, Srimata paddhati.

वैदिकम्, दक्षिणं,समयं	*सौभाग्यचिन्तामणि, दक्षिणामूर्ति संहिता, सनत्कुमार संहिता*	आदिशङ्कर, लक्ष्मीधर, गौडपाद
तान्त्रिकं, वामं, कौलं	परशुराम कल्पसूत्रं, नित्योत्सवम्, सोभाग्य रत्नाकरं	परशुराम, उमानन्दनाथ, भास्कररराय
मिश्र		

बहिर्याग + अन्तर्याग सालोक्यं – सामीप्यं –सारूप्यं – सायुज्यम् ।
पूजा ते विषयोपभोगरचना। उपासना ईश्वरप्रणीतम्।
ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

One and only when Her Grace is there, One gets the grace of performing her *Pujā* or *Sādhanā. Upāsanā* or *Saparyā* consists of *dhyāna, āvāhana* etc; ie invoking the Divine mother by the power of prayer and offering her all *upacārās* from the initial call till the final *udvāsanam.* When the *jīva* is deluded by the negativity of ego, illusion and delusion, and *karmabandam*, it does not realise its true nature. To revert back to the original nature of bliss, *Upāsanā* is the right royal path handed over to us by that very Divine Power through the blessed few. Umānandanātha in his Nityotsava divides Saparyā the *upāsanākrama* of the *Devi TripuraSundarī* in eleven parts.

The Seven Steps to Bhutasuddhi

Each and every Devatārādhanam has its own methodology. But *Śrīvidyā* has certain uniqueness incomparable, literally leading the *Upāsaka* into the lap of the divine *Lalitā Mahā TripuraSundarī.* सा एव 'निर्द्वैता द्वैतवर्जिता She alone only She alone can grant us that undual state.

1. गुरुपादुका मृगीमुद्राश्च. – Invoking the Guru

In *Śrīvidyā, Guru, vidyā, yantram, and tantram* are all one. *Guru i*s none other than *Devī* and *Gurupādukā* the *Mahāvakya*. So the very beginning of the *Sādhanā*, this special significance is broght into focus. The symbol of the female deer symbolises that the mind has to be controlled and brought into focus with **मृगीमुद्रा** along with the power of **गुरुपादुका** on the *sahasrāra*. This is followed by *dvarapujā* and *yagamandira-pravesa*.

गुरुमन्त्रदेवतात्ममनःपवनानामैक्यनिष्कालनादन्तरात्मवित्तिः।

2. यागमन्दिरप्रवेशम्–Entry into the *Yāgashāla* or the *Pujāgruha*.

Devi's *vāsassthāna*, Her home is in the *Meruśikhara* surrounded by *Kailāsa, Vaikunta, Brahmaloka* etc. She has also has her very unique *Cintāmaṇigruha* - **चिन्तामणिगृह** in the midst of the ocean of nectar-**सुधासागर**. She is in the *bindusthāna* of the *Śrīyantra.* For the *Sādhaka* his *Pujāgruha* is his *Yāgashāla*, *Sudhāsāgara*, the *Cintāmaṇigruha* et all. In the subltle sense, his body or his own mind is the yantra, his tanmatras *pujādravya* . Her unique *vāsassthāna* is protected from all negativies and protects also from every adversity. At the dvāra three guards guard the *Pujāgruha* as well the *Upāsaka*. *Bhadrakālī* on the right signifies *jīvabrahmaikya vicārayukta cittavruitti*, *Bhairava* on the left is the destroyer of all that negativities surrounding us and *Lambhodara* from above blesses us to raise to the state of absolute bliss. All three are three types of *cittavruitti*s only.

बहिर्याग	बाह्यपूजा	मृगीमुद्रा गुरुपादुका	द्वारपूजा 1.भद्रकाळी, 2.भैरव 3. लम्बोदर	चक्रम् शरीरम्
अन्तर्याग	मानसपूजा	आत्मगोचरवृत्ति	1. चित्तवृत्ति विचारं 2.आनन्दप्राप्ति शान्तवृत्ति 3.शान्तं पूर्णसंतोषं अमृतत्वम्	चक्रम् मनस्

3. तत्वाचमनम् – Cleansing the self in and out.

The Self purication with the water of Gyana.

आत्म	अहंकार	स्थूल	विश्व
विद्या	माया	सूक्ष्म	तैजस
शिव	कर्म	कारण	प्राज्ञ
सर्व	त्रिविधमलाभाव	त्रिदेहाभाव	सच्चिदानन्द

The main focus of tatvācamana is to eliminate body indentification and steady oneself in the state of bliss of Devi.

4. आसनपूजा — Invoking the limitless divine in the limited seat.

The difference of Time, Space and object does not exist in the Divine Sundarī Lalitā She shines in her own in her own Self, By her own Self and forever. *Asanapujā* alongwith *Deharaksā* leads to *pushpānjali* on the divine *yantra*.

अपरच्छिन्न भावितायाः ललितायाः स्वे महिम्नेयेव प्रतिष्टितं आसनम्।

5. घण्टापूजा — Ringin the divine.

The bell rings in *Praṇavanāda* and helps the *upāsaka* merge into the *nāda* to remove his *avidyā*.

आगमर्थं तु देवानां गमनार्थं तु रक्षसाम्। घटारवं करोम्यादौ देवताह्वानकारणम्॥

6. संकल्पः—The mental resolve to attain the *Upāsana lakshya*.

देशकालादि संशोध्य चासंकल्प्य मनोरथम्।
करिष्ये त्रिपुरापूजां मनसंकल्पशान्तये॥

Dissolving the body, mind-intellect identification, resolving to attain the everlasting blissful divine state is the purpose of Samkalpam. From the microcasam to the macraocasam. While talking on the SaMkalpa, the tradition is to do it with *Devīmāna Ashtāngam* where the

sūrya gati, Chandra gati and Nakshatra gati are all seen as the divine force of *Devī* herself. Today's *ashtagam* reading will be like this.

स्वस्तिश्रींमदादिगुरोः परशिवस्याज्ञया प्रवर्तमानशाक्तमानेन षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मकसकलप्रपञ्चसृष्टि–स्थिति–सम्हार–तिरोधानानुग्रह–कारिण्याः पराशक्तेः ऊद्ध्वंभ्रूविभ्रमे नं घ्राणतत्त्वमहाकल्पे, दं चक्षुस्तत्त्वकल्पे, थं त्वक्तत्त्वमहायुगे, खं सदाशिवतत्त्वयुगे, दं चक्षुस्तत्वपरिवृतौ, ङं माया तत्त्ववत्सरे, ऋं टं विमला ऋतौ, ऋं शिवदूती नित्या मासे, एं नीलपाताका तिथिनित्यायां, उं वह्निवासिनी दिननित्यायां, लं रूप तत्त्वदिने लृं ऋं एं ऐं ओं औं अं विमर्शानन्दनाथवासरे, पं नक्षत्रे, डं योगे, एं करणे विजयाख्यातकारघटिकोदये ममोपार्थ––––––––श्रीविद्यासपर्याक्रमपूजां करिष्यामः ।

7. दीप पूजा — Lighting up *Deepa* for *Gyānaprakāsa.*

In the middle of the heart with the *nāmarupa prapancam* as the ghee lighting gyana deepa prakasa.

दीपदेवि महादेवि शुभं भवतु मे सदा।
यावत्पूजा समाप्तिः स्यात् तावत् प्रज्वल सुस्थिरा॥

भूतशुद्धि – Cleaning up the avidyā

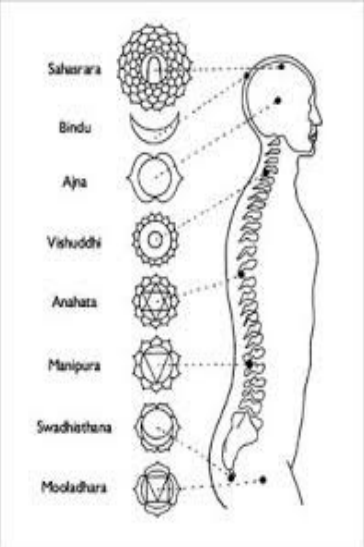

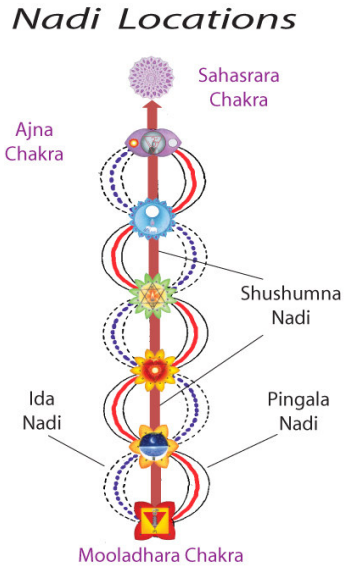

After walking these seven-steps gracefully with divine blessings we come to the one very important step of भूतशुद्धि . *Bhūtam* is the creation of *Māyā* and Avidyā. The identification of the self with the gross body made of the five elements of earth, water, fire, air and space, the illusory world and the ignorance is all due to eternal delusion. The dissolving of this ignorance is *Bhūtaśuddhi.*

Before beginning the *pūja* the *sādhaka* normally takes bath and ensures his *bahirśuddhi* ie his external cleanniness is obtained. But unless his innerself is dissolved its ignorance and past *avidya vasanabalam*, all the unwanted elements clouding his innerself and mind is ridden off, only then his effort of *pūja* fructify by leading him to the ultimate *sayujya* with the *Devi. Bhūtasuddhi* is that most important step which ensures that the *sādhaka* is cleansed of his avidya and attains *Sukshma śarīram* and also *Sukshma drishti.*

ओं ऐं ह्रीं श्रीं मूलशृंगाटकात् सुषुम्नापथेन जीवशिवं परशिवपदे योजयामि स्वाहा ।

Parashivam when deluded by *Māyā* is called *Jivashivam*. The unawakened *jivashivam* is seated in the *Mulādhāram* is symbolised as a coiled serpant. From this *Mulādhāram jiva* once it wakes up, travels through the path of the *sushumnānādi* and reaches the *sahasrārā* the seat of the *Parashiva Lalitā,* then the breath is let off through *Idā* beginning a process.

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः— *प्रश्नोपनिषद् 1–2*
हृदि ह्येष आत्मा। अत्रेकशतं नाडीनां– तासु व्यानश्चरति। *प्रश्नोपनिषद् 3–6*

This is the subtle beginning of the Kundalini yoga according to *Śrīvidyā Tantra* principles. Here, the *Kundalī rūpa* sleeping serpant is awakened from the *mūlādhāra* by cleansing oneself of all *Māyā* induced ignorance and by lifting the *Prāṇa* upwards, the awakened *Kundalī* through the *Suṣumnānādi* to *Sahasrārā* to attain the fusion with the *Śiva Śakti* . Three are the most vital *Nādīs,* Idā, Pingalā, and *Suṣumnā* . It is the most important *Nādi* whose awakening precedes the

ascent of *Kundalini* in Man. The *Prāṇā* that flows in these *Nādī* is *Vyānā*. सोऽभिमानदूर्वमुत्क्रमत— *प्रश्नोपनिषद् 2-4.*

In the Tāntric traditions the heart region is the *Anāhata cakra* . So from the *Mūlādhāra* the *Jīvātma* undisturbed by the worldly attachments and objects begins its ascension towards the effulgent Sahasrāra via the various *cakrās* . The beginning of the upward ascent denotes the reversal of the creative process. The gross body has aspects called *sthūla, sūkshma* and *kāraṇa sharīra*. Only if and only if we can burn away these three ignorances of body, mind and intellect then only then, this yoga will lead dormant *Kundalī* to the merger unto *Śiva Śakti*. For that, *Śrīvidyā Saparya* leads you to further into the *Sādhanā* .

4 यं 16 संकोशशरीरम् शोषय शोषय स्वाहा ।।– (इडया पूरयित्वा पिङ्गलया रेचयेत्।)
एष वायुः। 2-5/आदित्यो ह वै बाह्य :प्राण एष ह्येनं ——स समानो वायुर्व्यानः॥ 3-8

Prāṇa is the air- *Vāyu* . When *avidyā* or ignorance throws the veil over the *viveka* or right knowledge, the *Sādaka* tries to dry up the *avidyā* in his inner self by the reciting the *Vāyu Bījam Yam* sixteen times while breathing in through the *Idā* and slowly breathing out through *Pingalā*. *Prāṇa* is the wind in different forms. The flow of the *Prāṇa* with the *japa* of *Vāyu Bījam* dries up the impurities of the ignorance and prepares the *Sādaka* for the next step.

4 रं 16 संकोशशरीरम् दह दह पच पच स्वाहा –(पिङ्गलया पूरयित्वा इडया रेचयेत्)
एषोऽग्निः 2-5 ।

Prāṇa is the fire, the pure dynamic vitality that consumes everything. Now, the ignorance has dried up and ready for destruction. With the power of the *Agni Bījam* burn down the ignorance by lifting the *Prāṇa* ie by breathing in through *Pingalā*, breathing out through the *Idā* destroy all the *Avidyā* clouding the mind of the *jīvaśivam*. The burnt out ashes of the *jīvaśivam* is ready for the next stage.

4 वं 16 परमशिवामृतं वर्षय वर्षय स्वाहा। .(इडया पूरयित्वा पिङ्गलया रेचयेत्।)
मेघवानेष वायुः। 2-5

Prāṇa is the source of life by the power of life sustenance inherent in it. The *Prāṇa* from the *Sahasrāra*, by invoking the *Amruta bījam* Vam sprinkles the *amrutam* on the ashes of the *traipuram* of ahamkāra, karma and maya. Once the delusions of burnt down egos and with the sprinkling of the gyāna amrutam, the *jīvaśivam,* the *s*elf is ready for the resurrection.

4 लं 16 शाम्भव शरीरमुत्पादय उत्पादय स्वाहा।–(पिङ्गलया पूरयित्वा इडया रेचयेत्)
रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥5–2

Prāṇa as a subtle force pervades the unmanifest with the power of the Lam the *Prithvī bījam* and the *jīvaśivam* attains *Divya sharīram* which is immortal.

4 हंस सोहं अवतर अवतर शिवपदात् जीव सुषुम्नापथेन प्रविश मूलशृंगाटकं उल्लसोल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल हंसः सोहं स्वाहा। (इडया पूरयित्वा)

Whatever you do be that be that. शिवं भूत्वा शिवम् यजेत्। To be true to one's *upāsana* one should adapt the *Sārūpyabhāvanā* to attain the ultimate *Sāyujyam*.

अहं सः हंस सोहं

The *jīvaśivam*, the self, merges into the *Paraśhiva* and again the *śuddhatma* along with the *sharīra* is brought back to the *Mulādhārasthana* and the *yāga* thus began with the step 1from *Mulādhāra*- is successfully completed. The *jīvaśivam*, that rose from the *Mulādhāra*- was a *aśuddha jiva* but the *jīva* who is back in the same *Mulādhāra*- is *śuddha jīva* who has attained the oneness with the *akandākāra Parashiva*.

Avidyā, the incorrect understanding of the true knowledge is reason the Jiva's *aśuddhatā* impurities. By the action of *Bhūta Śhuddhi* this ignorance and incorrect understanding is dissolved and only pure *akshara rupa, kutasta pratyagatma* alone remains.

In the *Śrīvidyā tantra Prāṇa,* the vital air is symbolised by *Vārāhī* and Mind by *Mātangī* . Now with the play of the *Prāṇa,* the mind is purified and they both are leading the jīva to a merger with the Parashiva. There in the *Sahasrāra* on the thousand petalled lotus the *Divine Para* Śiva,, that *Śiva-Śakti*, That *Kameśvara -Kameśvari*, that LaitāDevi with her consort is seated served eternally by the *Prāṇa* and Mind as *Vārāhi* and *Mātangi*. सचामररमावाणी सव्यदक्षिणसेविता— *ललितासहस्त्रनाम.*

With this fusion and the repetition of अहम् सोहं 3 three times and establsing the self firmly in Her, the *Sādhaka* does *Prāṇayāma* three times alongwith with *mūla mantra* japa sixteen times. All this actions directed towards the control focus of the Mind, cleansing one's cittavritti fully and one wholesomely comes under the umbrella of the *TripuraSundarī.*

शाक्त प्रणवम् ओं ऐं ह्रीं श्रीं All mantra *prayogas* here are done with *Śakta Praṇava* along with *Pancadashi mūla*. *Śakta Praṇava*, is *Praṇava*, with *Śakti* mantra in a nut shell.

The subtle body, *Sukshma śarīram* with the *divine* grace and *Sukshma drishti* is in place. Now, The true *yāgamandirapraveśa* takes place in the Sahasrara and the *nirmala pratyagātma* in place the Pūjā further proceeds towards nyāsās, the unique pātra sādanam, with sāmānya and Visheshargyam, pītha puja, dhyanam, avahanam, avranam all proceed upto neerajanam and udvacanam. The aim of the *Pūjā*, this *upāsanā* is *Ātmaparoksham.* Every action of the life must be seen in that way.

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यं क्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिल–मात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्याय–स्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥ — *सौन्दर्यलहरी ।*

At this closing juncture, I would pay my obeisense to my Gurus all three Kanchi Matadīshvras, my guides Swargiya Shri S.V. Radha Krishna Sastriji, Śrīvidyāratnākara, Guruvara Shri Dinakara Sarmaji and SarvaSāstragya, Śrīvidyopravīṇa, Gurusevaratna, Vidyāvāridhi Shri Dr. Goda Venkateśwara Sastriji who have guided us in our, me and husband in our every step in this mārga and enlightened us. It is Her infinite Divine Grace that has brought us into Herfold and blessed us in innumerable ways seen or unseen, realised or not. It still Her Grace that through this University and Shri Dr. Rajendra Prasad Sarmaji that I am here thus far away from Chennai.

भवानि त्वं दासे मयि वितर च दृष्टिं स करुणां
इति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वम् तस्मै दिशति निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्द–ब्रह्मेन्द्र–स्पुटमकुटनीराजितपदाम्॥ — *सौन्दर्यलहरी ।*

45 (New) 215 (Old)
5th Trust Cross Street
Mandavalli
P.O. CHENNAI-
Pin. 600028
Tamilnadu
M. 9445328653
Phone : 0442495256

त्रिपुरायणी

प्रो. कमलचन्द्र योगी

(राजस्थाने हि वंशाली सिद्धा त्रिपुर-सुन्दरी)

मंगलाचरणम् (BENIDICTION)

गणानां त्वामीशं गजपति-मुखं गीष्पतिनुतम् । सुतं गौर्याःलम्बो-दर-ललिताम्भोज-रुचिरम् ।
स्वभक्तानां कल्प-द्रुम-फल-महासिद्धि-सदनम् । प्रियाणां त्वां प्रीतं प्रथम-परिपूज्यं प्रियपतिम् ।। 1 ।।
निधीनां त्वां देवं गिरिश-तनयाद्यं निधिपतिम् ।ह्वयामः पूजार्थं सकलजगतां विघ्न-शमनम् ।
वयं नीताः जन्म त्वमजननसिद्धो गुणनिधे ।त्वयास्मभ्यं देया अदितिसुतमेधा, गणपते ।। 2 ।।
सदास्माकं विघ्नान्प्रशमयतु शीघ्रं प्रतिपलम् । सुमाङ्गल्यं कार्यं सतत-गतियुक्तं फलयतु ।
वसो गेहे देहे मम कुल-निधौ-धान्य-धनद । सदा ऋद्ध्यै सिद्ध्यै सुखद-शुभलाभौ फलयताम् ।। 3 ।।
सुखं दत्वा शम्भो, प्रशमयतु दुःखं द्रुततमम् ।विनेतुं श्रेष्ठां शिक्षां विनमयतु भक्तान् वरयितुम् ।
मनोऽन्न-प्राणाश्च प्रगमयतु कोशान्, सुखयितुम् ।सुविज्ञानानन्दौ, सुगमय**तु** योगं फलयितुम् ।। 4 ।।
यदा वाद्या वीणा, सकलजग-मात्रा निजकरैः।तदा सर्वश्रुत्या श्रवण-श्रुत-सौख्यं सुमधुरम् ।
यदा वाण्याः देवी, सकल-जन-वन्द्या सुवरदा । तदा शिक्षां लब्ध्वा, प्रगतिशिखरेष्टं सुलभते।। 5 ।।
गुरुं ह्यादौ वन्दे, स्मित-गणपतिं विघ्न-हरणम् । मनौमि प्रारब्धे गलविवर-तन्त्र्यां प्रविशय ।
यदा कण्ठे देवी, मधुर-रव-गुञ्जं ध्वनयते । तदा सर्वे लोकाः, श्रवण-सुख-मुग्धा, प्रियतमाः ।। 6 ।।
मदिष्टे प्रारब्धे, मम नियतिरूपे,कृतिधरे । तनोःप्रागायाते,विधिकृततनुस्तर्हि रचितम् ।
यदा मे वागम्बा,समनियतहृद्या, श्रुतिधरा । तदा सर्वे देवाः, करुण-कृति-रीत्या हितकराः ।। 7 ।।

सुविज्ञानं सत्यं,समधिगत-धीराः, अधिकृताः। विधेर्विज्ञाश्रेष्ठाः,सुनय-पर-बुद्ध्या, सुफलदाः।
विभूतेर्यत्सत्त्वं भवविभवभव्यं भगवतः। समंशं पे.सू.ना. स्वगुरुमवगच्छामि गुणितम्।। 8 ।।
सदाशिवसमारम्भां शङ्कराचार्यमध्यमाम् । अस्मदाचार्य-पर्यन्तां वन्दे गुरु-परम्पराम् ।। 9 ।।
नमो देव्यै सुराराध्यै सुन्दर्यै च नमो नमः। नमो देव्यै भक्ताराध्यै, सुखदायै नमो नमः।। 10 ।।
सुख-स्वरूप-सुधायै वैभव्यै च नमो नमः। विद्याधन-प्रदात्र्यै च भूयो भूयो नमो नमः।। 11 ।।
जनकात्मानमादाय पुण्या भावार्चना सती । योगिकमलचान्द्री सिद्धा त्रिपुर-सुन्दरी ।। 12 ।।

।। श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ।।

देव्याःस्वरूपमाधृत्य सचित्रमत्र लिख्यते। सनातनार्य-हिन्दूनां—धार्मिकमान्यतानुगा ।।
जगत्सृष्टेर्हि या मूला, सा कर्तृका जगदम्बिका। पालिका संहृता माता त्रिपुर-सुन्दरी सदा।।
आदिशक्तिरस्ति देवी, देव्यास्त्वगणितानि च। सन्ति रूपाणि बहुधा दुर्गा सरस्वती तथा।।
लक्ष्मीर्हि पार्वती माता विभिन्नरूप-धारिणी । निजभक्तैः कृता सेवा-भावभक्त्यार्चिताम्बिका।।
पूजयन्ति जनाः सर्वे तां विविधैर्हि कारणैः। मनोवाञ्छानुसारं च प्राप्नुवन्ति फलानि हि ।।
त्रिपुरा-साधना-हेतौ देव्याः कामनापूर्तये । पूजनादतिरिक्तश्च बहुधा विधयस्सन्ति ।।
धर्म-शास्त्र-समाविष्टाः पालिताः जीवनान्विताः । राजते साधनायां शक्तिरद्भुतात्म-शान्तिदा ।।
पाययति स्वभक्तेभ्योऽम्बा स्व-दुग्धामृतं महत् । तस्मादेवाद्भुतां शक्तिं स्वयमम्बा प्रयच्छति ।।
कस्मायपि मिलेत्तर्हि किमपि लभते फलम् । त्रिपुरा-साधनायां या शक्तिरस्ति विलक्षणा।।
संसारे सा न कुत्रापि जीवास्मात्मादि-वस्तुसु । श्रद्धा-विश्वास-योगेन भक्ति-भाव-निजात्मना।।
श्रद्धा-भाव-प्रधानेन भक्ति-भाव-निष्ठया । आस्थया निष्ठया पूजा त्रिपुर-सुन्दरीकृता ।।
अर्चना साधनावश्यं यथेष्टं सुफलम्प्रदा । निष्काम-कर्मसाक्षित्वाद् यच्छत्येवेति निश्चितम्।।
साधनायां-सुखा-श्रद्धा-भक्ति-शक्ति-समन्वयः। त्रिपुर-सुन्दरी-मातुस्सम्बन्धैका हि साधना।।
यां कृत्वा च मनोवाञ्छा-पूर्तिं-कर्तुं हि शक्यते। गुप्तनवरात्रेषु नवम्यां सिद्धि-दायिनी ।।
सुप्रसन्नाम्बिका माता य़थाभिलसितम्प्रदा। ददाति प्रतिगृह्णाति सर्व-सौख्यश्च जीवने-।।
परमेश्वरातिरिक्तश्च माता-त्रिपुर-सुन्दरी । प्रसन्ना हि कर्तव्या भक्तिभावार्चनादिभिः।।

मासे हि श्रावणे शीघ्रं महादेवो हि तुष्यति। सदाशिवः प्रसन्नोऽसौ यथेष्टं हि प्रयच्छति ।।

सर्व-संभव-यत्नश्चेद् यथाकालं विधीयते । मातुर्हि श्रावणे मासे पूजा य़थाशास्त्रविधिं कृता।।

त्रिपुर-सुन्दरी पूज्या, आराधिता यथाविधि । समस्या-पाशतः-मुक्ताःशुभदिन-समन्विताः।।

शक्यन्ते भवितुं भक्ताः ज्ञान-वैराग्यभक्तिभिः। तत्तर्हि जीवने सौख्यं राजराजेश्वरीप्रदम्।।

धर्मानुसारतःमाता त्रिपुर-सुन्दरी स्वतः। शिव-पत्न्याः हि पार्वत्या रूपं धृत्वा हि राजते।।

सुरूपं पार्वती-मातुः त्रिपुर-सुन्दरी स्वतः। तपस्यां कुरुते श्रेष्ठा स्वपति-शिव-लब्धये ।।

शिवपूजा-सुलग्नेयं प्रसन्ना हि स्वयं सदा । स्वरूपं वर्धते मातुः पूजैकैग्र-सुयोगतः।।

यदि माता प्रसन्नास्ति सुप्रसन्नः पिता स्वयम्। मातरं पार्वतीं वन्दे सुन्दरीं त्रिपुराम्बिकाम् ।।

तवाशिषं प्रवाञ्छेऽहं प्रसन्ना भव सर्वदा । पितुःशिव-स्वरूपस्य परिचयं प्रदेहि मे ।।

ज्ञापयाम्बिके मामाशुःसत्यं शिवं हि सुन्दरम् । सुन्दर्याः सुन्दरं रूपं शिवादेव समागतम्।।

तस्यार्थोऽस्ति स्वतःएव शिव-कृपा समन्विता । यदस्ति स्वकीयं रूपं मातुरत्र सुचित्रणे।।

अर्द्धनारीश्वरे रूपे शिवः शिवा च सुन्दरौ । तथार्थो वर्तते शब्दे,श्लिष्टोऽर्थोऽस्ति शाब्दिकः।।

शिवे शिवा समाविष्टा शिवायाश्च तथा शिवः। रघुवंशे कालिदासेन मंगलाचरणं कृतम्।।

।। वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पर्वती परमेश्वरौ ।।

मातुस्त्रिपुर-सुन्दरी-देव्याःभव्यमत्रास्ति मन्दिरम्-

त्रिपुर-सुन्दरीपीठं भक्तेभ्यःसुखदं कथम्। समुच्यते कथया सारः यथाश्रुतं जनश्रुतौ।

मातुः त्रिपुर-सुन्दर्याः चमत्कारी-शक्तिपीठं राजस्थानस्य बांसवाड़ा जनपदे आयाति । अत्र 'मातुः त्रिपुर-सुन्दरी देव्याः मन्दिरं निर्मापितं, यस्य कथाः तत्र उपस्थितानि वस्तूनि दूरतः दूरतः श्रद्धालवः मन्दिरं प्रति खचितीकृत्य नीयन्ते । इदं मन्दिरं मूलत: अस्य क्षेत्रस्य उमरयी-ग्रामे आयाति, यत्र पाञ्चाल-ब्राह्मणानाम् एका लध्वी जनसंख्या वसति । कथ्यते मन्दिर नैकाः कथाः पांचाल-ब्राह्मणैर्युक्ताः किन्तु सर्वाधिक-महत्वपूर्ण कथाः भगवान् शिवेन तत्पत्न्या सत्या युक्ताः सन्ति । सत्याग्नि-कुंडे दाहे कृते सति शिवेन सत्याः शवं नीत्वा आकाशे विचरणं कुर्वति समये विष्णोश्चक्रेण सत्याः अङ्गानि प्रत्यङ्गानि विभिन्नेषु स्थानेषु पतितानि आसन्।। मातुस्त्रिपुर-सुन्दर्याः तदिदं शक्तिपीठं तदेव स्थानं यत्र सत्याः योनिः पतिता।

मातुरत्यन्तं सुन्दरं स्वरूपम्

तदा प्राचीनतम-चित्रेषु माता यौवनावस्थायां दर्शिता । अत्र स्थाने सत्या योनिः पतनात्पश्चात् स्थानमिदमन्य-शक्ति-पीठेषु गणितम्। किन्तु पौराणिक-कथातिरिक्तं स्वयं अत्रक्षेत्र-ब्राह्मणेषु अपि अस्य युगस्य एका कथा प्रसिद्धा अस्ति। प्रसिद्ध-कथा—

वार्तेयं तु 1102 इति विक्रम-संवत्सरस्यास्ति, यदा मान्यतानुसारमित्थं कथ्यते -एक वारं स्वयं माता सुन्दरी एव भिक्षुक्याः रूपं धृत्वा तत्-क्षेत्रस्य पाञ्चाल-विप्र-जनानां पार्श्वे दीक्षां याचितुं समागता । तस्मिन् समये ते लोकाः खनौ कार्यं कुर्वाणः आसन्नतः पाञ्चाल-विप्रैः भिक्षुकीं प्रति ध्यानं न दत्तम्, ततः सा त्रिपुरसुन्दरी माता तस्मात्स्थानात् चलायमाना गता ।

माता आगता आसीदस्मिन् स्वरूपे—किन्तु कथ्यते- तस्यां ततः गतायां सत्यां ततः पश्चादेव सा खनिः पतिता ध्वस्ता, सर्वे लोकाश्च तत्र खनौ मृताः। खनिरियमद्यापि तत्रैव वर्तते, या मन्दिरं निकषैव निर्मिता विद्यते, स्थानीयजनेषु च स्फुटिता खनिर्नाम्ना प्रसिद्धा अस्ति ।

अस्यां कथायां कियती सत्यता अस्तीदं तु न कोपि जानाति किन्तु जनेषु मान्यतेयमस्ति—ये के पि मातुरस्मिन् शक्तिपीठमागत्य मनसा वाचा कर्मणा साधनां कुर्वन्ति तेषां सर्वाः अपि मनोकामनाः पूर्णाः भवन्ति। श्रावणमासे एव साधना राजस्सुखं प्राप्तुं सोमवासरात् समारम्भा कर्तव्या सात्त्विक-साधना सप्ताहपर्यन्तम्—

स्नात्वा शुद्धसितवस्त्राणि धृत्वा श्वेतासनमुपविश्य देव्याः ध्यानं कृत्वाधोलिखितया रीत्या जपन्तु मन्त्रमग्रलिखितम्—अधुना देव्याः पार्वत्याः ध्यानं कुर्वन्तः तां प्रार्थयन्तः सुपार्यां स्वकीयं भागांशं प्रदानं कर्तुं प्रार्थयन्तु । क्रियामिमामेकादशवारं कुर्वन्तु। इतः परं शुद्धं समीचीनमुच्चारणं कुर्वन्त देव्याः ध्यानं मन्त्र-जपञ्चेत्थं कर्तव्यम्—

बालार्कायुत-तेजसीं त्रिनयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीम्। नानालङ्कृति-राजमानवपुषं बालेन्दु-राज-शेखराम् ।
हस्तैरिक्षुधनुःसृणिं सुमनश्शरं पाशं च मुदा बिभ्रतीम्। श्रीचक्रस्थितां सुन्दरीं त्रिजगतामाधारभूतां स्मरेत्।।

इत्थं देव्याः मन्त्रः।

ध्यानम्-मन्त्रजपानन्तरमाह्वान-मन्त्रोऽपि पठितव्योऽस्ति—

ॐ त्रिपुर-सुन्दरी पार्वती देवी, मम गृहे आगच्छ आवहयामि स्थापयामि, पूजयामि च, इतः परं सादरम् । मन्त्र-जपानन्तरं देवीं सुपार्यां प्रतिष्ठितां कुर्यात् । मातरि तिलकं कुर्वन्तु, धूप-दीपादि-पूजन-सामग्रीभिः साकं पञ्चोपचार-विधिना पूजनं पूर्णं कुर्वन्तु । अधुना कमलबीजानां मालां नीत्वा 108 इति वारं मन्त्रस्यास्य जपं कुर्वन्तु—

ॐ ह्रीं क ऐ ई ल ह्रीं ह स क ल ह्रीं स क ह ल ह्रीं।

अष्टमे दिने किं कर्तव्यम्—

अष्टमे दिने फुल्ल-सित-तिल-मिष्ठान्न-पाटल-पुष्पाणि-बिल्व-पत्राणि सांक मेलापयित्वा108 आहुतिभिः हवनं कुर्यात् । हवनाय मन्त्राग्रे ॐ ह्रीं त्रिपुर-सुन्दर्यै स्वाहा योजयित्वा मन्त्रोच्चारणं कुर्यात् ।

माता भगवत्यनेकरूपेषु सर्वत्र व्याप्ता । समस्त-जडजगद्देव्याः प्रभावेण सजीवं चलायमानश्चास्ति। शक्तेरित्वाभावे तु शिवोपि श्वायते, शवायते च। । देव्याः रूपेषु एका जगत्प्रसिद्धा देवी त्रिपुर-सुन्दरी वर्तते। देवी दश-महाविद्यासु तृतीय- क्रमा देवी अस्ति, त्रिषु लोकेषु सर्वाधिक-सुन्दरी सर्वशुभ-कर्मसु शीघ्रं फलदा त्रिपुरसुन्दरी। षोडश-कला-युक्ता माता षोडश-वर्षीया कन्यायाः समाना , सहस्रशः सूर्य-तेजस्समाहिता कृता मातुः द्वितीयं नाम षोडशी देवी अपि अस्ति ।। देव्याराधना समस्त-प्रकारकैश्वर्यं भोगश्च प्रयच्छत त्रिपुरा बाला षोडशी, कामकला परा प्रसादा , हंसा चरणदीक्षा, षट्सम्भवी च परमेश्वरी । दशमहाविद्यासु *सम्मोहन-तन्त्रे* यथा चोक्तम्—

वाममार्गी, दक्षिणमार्गी, चित्रा बाला, कमला सुमुखी भुवनेश्वरी, लक्ष्मी, तारा, बगला, सुन्दरी, तथा राजमातङ्गी।

त्रिपुरसुन्दरी ललिता, त्रिपुरा उपासकाः ब्रह्मादि-देवगणाः त्रिपुरोपासकाः। तत्र प्रथमं स्थानं कामस्य (मन्मथस्य) । कामराजविद्या (कादि पञ्चदशवर्णात्मक तन्त्रराज-त्रिपुरोपनिषत्समाना लोपामुद्रा विद्या हादि अपि पञ्चदश-वर्णात्मिका । कामेश्वराङ्कस्थिता कामेश्वरीपूजावसरे विद्योपयोगो भवति। ह्यादि-विद्यावेत्री लोपामुद्रा आसीदगस्तस्य धर्मपत्नी । सा चासीद् विदर्भराज-कन्या। सा स्वपितुर्गृहे बाल्य-काले पराशक्तिं प्रति भक्ति-सम्पन्ना जाता । त्रिपुरायाः मुख्या शक्तिर्भगमालिनी ऐश्वर्यप्रदा । लोपामुद्राया पिता बहुधैश्वर्यप्रदायाः भगमालिन्याः आसीदुपासकःमहान् । लोपामुद्रा बाल्यकालात्पितृसेवां कृतवती सती पितुरुपासनां दृष्ट्वा भगमालिन्युपासनां प्रारम्भां कृतवती । झटित्येव प्रसन्ना भूत्वा जगन्मात्रा देव्या स्वपदसेवाधिकारः लोपामुद्रायै दत्तः । आद्या-त्रिपुरा-विद्योद्धारे कृते सति त्रिपुरसुन्दर्याः हादिश्रीविद्या नाम्ना लोपामुद्रा ऋषिकात्वं प्राप्तवती। अगस्त्यो वैदिकः आसीदृषिर्मन्त्र-द्रष्टा । तत्पश्चात् स्व-भार्यातः अगस्त्योऽसौ दीक्षां नीतवान् । दुर्वासा-संप्रदायस्तु प्रायशः लुप्त एव । श्रीविद्या, शक्ति-चक्र-सम्राज्ञी अस्ति ब्रह्मविद्या स्वरूपेति । इयमेव आत्मशक्तिः। प्रसिद्धिरेतादृशी—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरी-सेवन-तत्पराणां, भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव । इति ।

अगस्त्यः केवलं तन्त्रे एव सिद्धो नासीदपितु प्रसिद्धो वैदिक-मन्त्र-द्रष्टा आसीत्। श्री-शङ्करमठे अपि निरन्तरमेव श्रीविद्योपासना पूजा च चलत्येव समायाति । त्रिपुरायाः स्थूलमूर्तेर्नाम ललिता । अगस्त्यस्तीर्थयात्रायै भ्रमणे काले जीवानां दुःखं दृष्ट्वा अत्यंतं द्रवितो भवत् । काञ्चीपुरे तपस्ययासौ महाविष्णुं

तुष्टवान् । तस्मिन् समये महाविष्णुः प्रसन्नः भूत्वा तत्समक्षं त्रिपुरसुन्दर्याः स्थूलमूर्तेर्ललितायाः माहात्म्यमुपवर्णितं कृतम्। यस्मिन् प्रसङ्गे भण्डासुर-वध-प्रभृतीनां वर्णनमासीत्, अस्य सविस्तरं विवरणं स्वकीय-स्वांश-हयग्रीव-मुनेः श्रवणं कुर्वन्तु । एतदनन्तरं हयग्रीवमुनिरगस्त्यमुनये भण्डासुरस्य वृत्तान्तं कथितवान् । भण्डासुरोसौ तपस्यायाः प्रभावेण शिवाद्वरं प्राप्य 105 ब्रह्माण्डानामाधिपत्यस्य लाभं लब्धवान् ।

हादिविद्योपासकानां त्रिपुरसुन्दरी समुपास्या वर्तते त्रिपुरोपनिषद्भावनोपनिषच्च मन्मथोद्भवस्य कादि-मतस्य प्रसिद्धौ ग्रन्थौ स्तः। त्रिपुरोपनिषदः व्याख्याकार-भास्कररायस्य मतानुसारमुपविद्येयं सांख्यायनारण्य-कान्तर्गता वर्तते । हादि-विद्यायाः प्रतिपादनं त्रिपुरातापिन्युपनिषदि वर्तते । प्रसिद्धिरस्ति दुर्वासा-मुनिस् त्रयोदशाक्षरवत्याः हादि-विद्यायाः उपासकः, आसीत् । दुर्वासा-रचितः *ललितास्तवरत्न-नामको* ग्रन्थः मुम्बयीतः प्रकाशितोऽभवत्।

दुर्वासामुनेरेकं स्तोत्रं वर्तते त्रिपुरा-महिम्नःस्तोत्रम्। तदुपरि-नित्यानन्दनाथस्यैका टीका अस्ति। *सौभाग्य-हृदय-स्तोत्र-नामैकं* प्रसिद्धं स्तोत्रमस्ति यस्य रचयिता महार्थमञ्जरीकारस्य गोरक्षस्य परमगुरुरस्ति। योगिनी-हृदयमुत चतुःशती सर्वत्र प्रसिद्धा वर्तते । पूर्वं चतुःशती रामेश्वरकृता परशुराम-कल्पसूत्रस्य वृतौ वर्तते। ब्रह्माण्ड-पुराणस्य उत्तरखण्ड श्रीविद्यायाः विषयकं प्रकरणं हादीयमुत्तरानंता, दुर्लभा, उत्तर-खण्ड त्रिशती अथवा ललिता-त्रिशती नाम्ना प्रसिद्धः स्तवो वर्तते यस्योपरि शङ्कराचार्यस्यैका टीकापि अस्ति। प्रकाशनमस्याः सञ्जातम् । नवशक्ति-हृदय-शास्त्रे विषये योगिनी-दीपिका-टीकायामुल्लेखो दृश्यते।

इदं त्रिपुरोपपनिषदः उपबृंहणं वर्तते । अस्मिन्नोपरि रामेश्वरस्यैका वृत्तिरस्ति यस्याः नाम सौभाग्योदयः, इत्यस्ति यस्य रचना 1753 शकाब्दे सञ्जाता । प्रकाशनमप्यस्य सञ्जातम्। प्राचीन-ग्रथागारे कौल-सूत्रस्यैकं हस्तलिखितो ग्रंथो दृष्टः यस्येदानीं यावन्मुद्रणं न जातम् ।

सौभाग्योदयोदयोपरि लक्ष्मीधरोऽप्येका टीकां लिखितवान् । सौभाग्योदय-स्तुतेः रचनानन्तरं शङ्कराचार्यः सौन्दर्य-लहर्याः निर्माणं कृतवान् या च आनन्दलहरीति नाम्नापि प्रसिद्धास्ति । ललिता-सहस्रनाम्ना एकः प्रसिद्धो ग्रन्थो वर्तते यस्मिन्नुपरि भास्करस्य टीका सौभाग्य-भास्करी (यस्य रचना-कालः 1729 ई.) वर्तते। ललितासहस्रनामोपरि काशीवासी पं. काशीनाथ-भट्टस्यैका टीका आसीत् । काशीनाथ-भट्टः दीक्षा ग्रहणानन्तरं शिवानन्देति नाम्ना प्रसिद्धो जातः । तट्टीकाया नाम *नामार्थ-संदीपनी* वर्तते । भास्कर-रायः सेतुबन्धे अपि आलोचना प्रस्तुता कृता । तन्त्रराजे या नित्याहृदयस्य वार्ता कथिता सा वस्तुतः योगिनीहृदयस्य एव नामान्तरं वर्तते । वामकेश्वरतन्त्रस्य उत्तरार्धे नित्याहृदय इत्येतत् तन्त्रोत्तरार्धस्य योगिनी हृदयस्य संज्ञा।

वर्णसम-मन्त्रसम-नाम्नि नामानि सन्ति । क, ह, ये महामन्त्रोत्तरान्वयस्य सन्ति । ककारेण ब्रह्मरूपतास्ति। इदं कादिमतमस्ति। हकारेण शिवरूपता, हादि मते वर्तते । कादि-मतं काली मतं वर्तते हादि-मतं सुन्दरी-मतं वर्तते । सुन्दरीमते प्रपञ्चं वर्तते । या सुन्दरीतो भिन्ना वर्तते, तस्यां प्रपञ्च नास्ति। सौन्दर्यं सर्वदर्शनं वर्तते। ब्रह्मसन्दर्शनस्यार्थः वर्तते-सौन्दर्यस्य दर्शनम् । 58 पटले वर्तते—भगवती सुन्दरी कथयति—अहं

प्रपञ्चभूताऽस्मि, सा तु निर्गुणारूपिणी (शक्तिसङ्गमतन्त्रे, अध्याये 58)। केचन वदन्ति – कादी, हादी कहादी इत्यादि-भेदैः तन्त्रराजस्य कतिपये भेदाः सन्ति । *योगिनीहृदयम्* सुप्रसिद्धो ग्रन्थः। अयं वामकेश्वर-तन्त्रस्योत्तररूपा चतु:शती । भास्करारायो भावनोपनिषद्भाष्ये कथितवान्नयं कादिमतानुयायी ग्रन्थ:। तन्त्रराजस्य टीकायां मनोरमायामपीयमेव वार्ता मिलति, परन्तु वरिवरस्या-रहस्ये वर्तते- अस्या हादि-मतानुकूला व्याख्यापि वर्तमाना । योगिनीहृदय एव नित्याहृदयेति नाम्ना प्रसिद्धा।

तन्त्रराजे कादि-मतैकश्लोकाशयः – नित्यानां षोडषानां च नवतन्त्राणि कृत्स्नशः। सुभगानन्दनाथः स्वकीयायां मनोरमाख्यायां टीकायां कथितवान्नस्मिन् प्रसङ्गे नवतन्त्रस्यार्थो वर्तते– त्रिपुर-सुन्दर्याः हृदयमिति। चन्द्रज्ञान-मातृकातन्त्र-सम्मोहनतन्त्र-मातृकेश्वरतन्त्र-बहुरूपाष्टक-प्रस्तारचिन्तामणीनां समानेयं टीका समवबोधव्या । अत्र स्थले सुन्दरीहृदयस्य योगिनीहृदयेन तादात्म्यं वर्तते।

प्रसिद्धिरस्ति- सत्ययुगे चराचर-जगद्विनाशाय यदा वात-क्षोभो भवत् तदा यथासमयं भगवान् तपस्यां कुर्वन् त्रिपुरादेव्याः स्तुतिं कर्तुमारब्धवान् । देवी प्रसन्ना सम्भूय सौराष्ट्रे देशे वीर-रात्रौ दिने माघे मासे चतुर्दश्यां तिथौ प्रकट्य-रूपेण अवतरितवती । बगलादेवीयं त्रैलोक्य-स्तंभिनी विद्या कथ्यते ।प्राणातोषिनीति ग्रंथे धूमावत्याः आविर्भावो वर्णितो जातः।

मातङ्ग्याः नामान्तरं सुमुखी । मातङ्गी उच्छिष्ट-चाण्डालिनी महापिशाचिनी वा कथ्यते। मातङ्गी विभिन्न प्रकारक-भेदवती- ब्रह्मयामलमनुसृत्य ज्ञायते- मातङ्गमुनिर्दीर्घकालीनया तपस्यया प्रसन्नां देवीं कन्यारूपेण प्राप्तवान् । प्रसिद्धिरियमपि अस्ति- घने वने मातङ्गर्षि तपस्यारतः आसीदिति। क्रूर-विभूतीनां दमनार्थं तत्र स्थाने त्रिपुरसुन्दर्या चक्षुषः एकस्तेजस् निसृतम्। काली तेन तेजसा श्यामलरूपं धृत्वा राजमातङ्गी रूपेण प्राकट्येनावतरिता। मातङ्ग्याः भैरवस्य नाम सदाशिवो वर्तते।

मातङ्गी-विषये मातङ्गी-सपर्या, राम-भट्टस्य मातङ्गीपद्धतिः शिवानन्दस्य पद्धतिः। मन्त्रपद्धतिः सिद्धान्तसिन्धो: एकः अध्यायो विद्यते । काशीनिवासी शङ्कर-नामकैकस्सिद्धोपासकः सुमुखी-पूजापद्धतेः आसीद् रचयिता शंकर-सुन्दरानन्दनाथस्य शिष्यः षष्ठे वंशानुक्रमे प्रसिद्धस्य विद्यारण्य-स्वामिनः शिष्याणां परम्परायामासीत् ।

आचार्यः व्याकरण-विभागे,
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थाने, (समविश्वविद्यालये),
जयपुरपरिसरे- त्रिवेणीनगरे पिन-302018,
मो.फोन.9602660429

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीविमर्श

डॉ. शम्भु कुमार झा

तन्त्रागम में ऐहिक और पारलौकिक उभयविधकल्याणपदश: समाविष्ट है। संसार स्थित जीवों के कर्मफल का समग्र चिन्तन इस धराधाम में ही होता है। शास्त्रों का काम प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों है। *भामती टीका* में कहा गया—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते।।[1]

तन्त्रागम के दो मार्ग प्रशस्त हैं—वाममार्ग तथा दक्षिणमार्ग। वाममार्ग में अपने वर्णाश्रम में विहित समस्त कर्म श्रौत-अग्निहोत्रादि, स्मार्त, अष्टकादि, तान्त्रिक मन्त्र सिद्धि आदि कर्मों में जो प्रधान देवता अथवा अङ्ग देवता विहित हैं उस देवता के स्थान पर अपनी उपास्य देवता की ही भावना करें। तत् तत् मन्त्रों में उपास्य देवता को ही योजित करें। इस वाममार्ग में देव-ऋषि पितृ-ऋण का शोधन नहीं होता यह एक प्रकार का दोष है। दक्षिण मार्ग में यथाविहित ही श्रौतादि मन्त्रोपचार होता है इस कारण से दक्षिण मार्ग में शीघ्र ही मोक्ष सम्भव है। वाममार्ग में विलम्बित मोक्ष प्रक्रिया है। ऋणशोधन के अभाव में कुछ काल तक बन्धन में पड़ा रहना पड़ता है। अब प्रश्न उठता है जब वाममार्ग का पूजन, उपासना क्लिष्ट है ऋणशोधन के अभाव में मोक्ष भी विलम्बित है तो अनुष्ठान क्यों किया जाए? लोक इस मार्ग में प्रवृत्त क्यों होते हैं?

इस प्रश्न का समाधान *सौभाग्यभास्कर* में इस प्रकार दिया गया है—

ऐहिकानामुच्चावचफलानामिहैव जन्मनि भोगलिप्सया मोक्षे स्वल्पविलम्बस्य सोढव्यत्वात्। मुक्तिमुक्तिप्रदत्वेन वैशयिकशिष्टानां प्रवृत्तिसम्भवात्। ऐहिकभोगविरक्त-शिष्टानां तु मोक्षे विलम्बस्यासोढव्यत्वाद्दक्षिण एव मार्गे प्रवृत्तिरिति विवेक:।[2]

विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि साधक यदि विषयभोग के प्रति आसक्त है तो उसे वाममार्ग का सेवन करना चाहिए।

---

1. *भामती टीका।*
2. *सौभाग्यभास्कर*, पृ. 183.

त्रिपुरसुन्दरी का पूजन भारतवर्ष में अतिप्राचीनकाल से दोनों मार्गों से होता रहा है। वाम एवं दक्षिण मार्गों के अनेक आगमग्रन्थ हमारे लिए आदर्श हैं। हमें किसी मार्ग के प्रति पूर्वाग्रह नहीं रखना चाहिए। *कालिकापुराण* के अनुसार—

बालां वा त्रिपुरां देवीं मध्यां वाप्यथ भैरवीम्।
यो यजेत् परया भक्त्या पञ्चबाणोपमः कृती।
कामेश्वरीं तु कामाख्यां पूजयेत्तु यथेच्छया।
दाक्षिण्यादथवावाम्यात् सर्वेषां सिद्धिमाप्नुयात्।।[3]

साधक स्व-स्व सम्प्रदाय एवं परम्परा के अनुसार अर्चना कर सकते हैं। *ललितासहस्रनाम* में—**त्रिपुरा त्रिजगद्वन्द्या त्रिमूर्तिस्त्रिदशेश्वरी।**[4] इसकी व्याख्या में कहा गया है—तिसृभ्यो मूर्तिभ्यः पुरातनत्वात्त्रिपुरा।[5] एक ही ब्रह्म तत्त्व त्रय से अभिन्न है। *त्रिपुरार्णव* में 'त्रिपुरा' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—

नाडीत्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिङ्गला इडा।
मनोबुद्धिस्तथाचित्तं पुरत्रयमुदाहृतम्।।
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात्तु त्रिपुरा मता।।[6]

कालिकापुराण के अनुसार त्रिकोण में अवस्थित होने एवं तीन संख्यात्मक सबसे सम्बद्ध होने के कारण त्रिपुरा कही गई है—

त्रिकोणं मण्डलं चास्या।[7]

सर्वत्रयं त्रयं यस्मात्तस्मात् तु त्रिपुरास्मृता।।[8]

तीन के साथ किस प्रकार अन्वित है—

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा
त्रैलोक्यं त्रिपुरी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्मवर्णास्त्रयः
यत्किञ्चित् जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः।।[9]

---

3. *कालिकापुराण।*
4. *ललितसहस्रनामावली,* 176.
5. *सौभाग्यभास्कर।*
6. *त्रिपुरार्णव।*
7. *कालिकापुराण।*
8. *कालिकापुराण।*
9. *कालिकापुराण।*

ब्रह्माण्डपुराण में विस्तार से इस पर प्रकाश डाला गया है। तदनुसार ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर परस्पर सङ्घीभूत एकीभाव को प्राप्त कर प्रसन्नचित्त होकर देखने लगे। इन तीनों की दृष्टि से दिव्यकुमारी उत्पन्न हुई। इस कुमारी को देखकर देवों ने जिज्ञासा प्रकट की तुम कौन हो तथा किस कार्य से उत्पन्न हो। वह कुमारी कृष्ण-श्वेत-पीत तीन वर्ण वाली थी। आप लोग मुझे नहीं जानते मैं आपकी शक्ति परमेश्वरी हूँ। इन तीनों देवों ने वरदान दिए—

नाम्नासि त्रिकला देवि पाहि विश्वं च सर्वदा।
अपराण्यपि नामानि भविष्यन्ति तवानघे।।
गुणोत्थानि महाभागे सर्वसिद्धिकराणि च।।[10]

व्याख्या के अग्रिम भाग में वर्णत्रय श्वेतकृष्णपीत की चर्चा है तथा ब्राह्मी, रौद्री तथा वैष्णवी का समवेत रूप है—

एषा त्रिमूर्तिरुद्दिष्टा नयसिद्धान्तगामिनी।
एषा श्वेता परा शक्तिः सात्त्विकी ब्रह्मसंस्थितिः।
एषैव कृष्णा तामसि रौद्री देवी प्रकीर्तिता।।
परमात्मा यथा देवः एक एव त्रिधा स्थितः।।[11]

इस प्रकरण में यह ज्ञातव्य है कि श्रीयन्त्र को यन्त्रराज या चक्रराज कहा गया है। श्रीविद्योपासना में समस्त देवी-देवताओं का पूजन क्रम है। श्रीयन्त्र नाना यन्त्रों का समेकित रूप है तथा इसका ज्ञान हो जाने से सृष्टि प्रपञ्च का अपरोक्षानुभूति सम्भव है। *ललितासहस्रनाम* में कहा गया है—

श्रीचक्रराजनिलया श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी।[12]

श्रीचक्र शिव का गात्र माना गया है—**श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।**[13] शरीर में जैसे जीव की अवस्थिति है उसी प्रकार शिव-शिवा का नैजस्थान चक्रराज है। त्रिपुरसुन्दरी का तात्पर्य है त्रिपुर सदाशिव की भार्या श्रीयुक्ता त्रिपुरसुन्दरी। सुन्दरी भार्या कही गई है—

त्रिपुरस्य परशिवस्य सुन्दरी भार्या। श्रीमती च सा त्रिपुरसुन्दरी चेति तथा। अत्र त्रीणि पुराणि ब्रह्मविष्णु शिवशरीराणि यस्मिन्सः त्रिपुरः परशिवः।[14]

---

10. *सौभाग्यभास्कर।*
11. *सौभाग्यभास्कर।*
12. *ललितासहस्रनाम*, 233.
13. *सौभाग्यभास्कर।*
14. *सौभाग्यभास्कर।*

तान्त्रिक पद्धति में शिव शक्ति का पार्थक्य स्वीकृत नहीं है। इन दोनों को अलग नहीं कर सकते। भगवती श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी को तन्त्रागम में त्रिपुरा कहा गया है। *त्रिपुरोपनिषद्* में—

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः अधिष्ठायैवमजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्।[15]

त्रिपुरार्णव तन्त्र में कहा गया है—

त्रिपुरा परमाशक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका।।
कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी।।[16]

त्रिपुरा सिद्धान्त का तन्त्र के विविध ग्रन्थों में दार्शनिक चित्रण भी उपलब्ध होता है। *योगिनी हृदय* में परा, परापरा, अपरा तथा बुद्ध, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध अन्य वर्गीकरण के अनुसार मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, पुनः साधक, सिद्ध, सिद्धि, नर, शक्ति, शिवा और आणव, शाक्त तथा शाम्भव आदि त्रिक भेद किए गए हैं। लक्ष्य सबका समान है। भगवान् परशुराम के द्वारा त्रिपुरा का पञ्चधा विभाग साधकों के लिए कल्याणप्रद है—

1. गणपतिक्रम, 2. श्रीक्रम, 3. श्यामलाक्रम, 4. दण्डिनीक्रम, 5. पराक्रम।[17]

भगवती परमेश्वरी परमाशक्ति ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूपिणी ज्ञानक्रियाइच्छाशक्त्यात्मिका लोकत्रय का सर्जन करने के कारण त्रिपुरा संज्ञिका है।

श्रीचक्र में यन्त्र का वैविध्य देवता वैविध्य साधना भेद से ज्ञातव्य है। परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी रूपा वाक्, यन्त्रगत मानी गई है। श्रीचक्र का संहारक्रम एवं सृष्टिक्रम (सम्भव क्रम) दोनों ही ज्ञातव्य हैं। सृष्टि क्रम में नवचक्रात्मकश्रीचक्र की भावना एवं साधना है। नवयोन्यादि पृथिव्यन्त सृष्टिक्रम इसके विपरीत पृथिव्यादि नवयोन्यन्त संहार क्रम प्रशस्त है। इन दोनों का समवेत रूप (सृष्टि+संहार) ही त्रिपुरा चक्र है। इसका त्रिधा व नवधा विभाग करते हैं। त्रिधा सृष्टि क्रम में तथा नवधा संहार क्रम में वर्णित है।

एक वह्नि (बीज) एवं दो शक्ति के संयोग से बिन्दु-त्रिकोण-अष्टकोणों से नवयोनि चक्र होता है तथा वह्नि त्रय एवं शक्ति त्रय के योग से दशारचक्रद्वय एवं चतुर्दशारचक्र सिद्ध होता है यह द्वितीय प्रकार है। अष्टदल कमल से एवं षोडशदल कमल से प्राप्त चतुरस्रत्रय तृतीय चक्र निष्पन्न होता है। इस प्रकार सृष्टि क्रम में चक्र के तीन प्रकार सम्पादित होता है।

---

15. *त्रिपुरोपनिषद्*-1.
16. *चतुःशती।*
17. *त्रिपुरार्णव तन्त्र,* भूमिका।

संहार क्रम में इसे नौ प्रकार से ज्ञापित करते हैं। भूत्रय से प्रथम, षोडशारक द्वितीय, अष्टदल तृतीय, मनुकोण चतुर्थ, दशकोण पञ्चम, दशार षष्ठ, वसुकोण सप्तम, मध्यत्र्यश्र अष्टम, त्र्यश्रमध्य नवम इन नौ चक्रों के पृथक् नाम ये हैं—

1. त्रैलोक्य मोहन, 2. सर्वाशापूरक, 3. सर्वसङ्क्षोभण, 4. सर्वसौभाग्यदायक, 5. सर्वार्थसाधक, 6. सर्वरक्षाचक्र, 7. सर्वरोगहर, 8. सर्वसिद्धिकर, 9. सर्वानन्दमय।

इन समष्टि रूप चक्रों में महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी पूजित होती है।[18]

नौ चक्रों में क्रम से नाद-बिन्दु-कला-रौद्री-वामा-विषघ्नी-दूती एवं सर्वानन्दा ये नौ शक्तियाँ विद्यमान होती हैं।

त्रिपुराश्री, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुरासिद्धा, त्रिपुराम्बिका, महात्रिपुरसुन्दरी—

त्रिपुरा त्रिपुरेशी च सुन्दरी पुरवासिनी।
श्रीर्मालिनी च सिद्धाम्बा त्वष्टमी त्रिपुराम्बिका।
त्रिपुरा प्रथमा नित्या द्वितीया त्रिपुरेश्वरी।
सुन्दरीति तृतीया स्याच्चतुर्थी पुरवासिनी।।
पञ्चमी त्रिपुराश्री: स्यात् षष्ठी त्रिपुरमालिनी।
सप्तमी त्रिपुरासिद्धा त्वष्टमी त्रिपुराम्बिका।।[19]

चक्र पूजन में ध्यातव्य है कि चक्र में साक्षात् देवी दर्शन करें। चक्र सजीव दिव्य गुणोपेत है। चक्र में ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग आवरणादि पूजन आवश्यक है। योगिनी हृदय में कहा गया है—

स्फुरत्तामात्मन :पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भव:।[20]

साक्षात् त्रिपुरसुन्दरी ही चक्र रूप में परिणत होती हैं—

सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत यथा।
तद्देहावयवानां परिणतिरावरणंदेवता:।।[21]

दिग्भेद से चक्र को चतुराम्नाय रूप भी पढ़ा गया है। पूर्व को सृष्टि आम्नाय दक्षिण में स्थिति आम्नाय पश्चिम में संहाराम्नाय उत्तर में अनाख्य आम्नाय समझना चाहिए—

18. *नित्याषोडशिकार्णव*, भूमिका।
19. *अर्थरत्नावली* टीका।
20. *योगिनीहृदय*, 1-10.
21. *कामकलाविलास*, 36.

पूर्वाम्नायः सृष्टिरूपः स्थितिरूपस्तु दक्षिणः।
संहारः पश्चिमो ज्ञेयो ह्यनाख्यस्तूत्तरः स्मृतः।।[22]

इसमें सृष्ट्यादि तीन आम्नाय के प्रत्येक के तीन भेद रूपायित हैं। इस प्रकार नौ भेद होते हैं। पुनः एक-एक के समष्टि-व्यष्टि भेद से पाँच रूप जानना चाहिए, जैसे—समष्टिसृष्टि, सृष्टिसृष्टि, स्थितिसृष्टि, संहारसृष्टि, अनाख्यासृष्टि पूर्व में तथा स्थिति आदि पाँच दक्षिण में तथा संहारादि पाँच पश्चिम में। अनाख्या रूप उत्तर में एक रूप मात्र है। इस तरह चक्र का षोडशरूप सम्पादित होता है।

श्रीनित्याषोडशिकार्णव में षोडशी के अलग-अलग नाम वर्णित हैं—

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी।।
नित्यक्लिन्नाभिधा नित्या भेरुण्डा वह्निवासिनी।
महाविद्येश्वरी दूती त्वरिता कुलसुन्दरी।।
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला।
ज्वालामालिनी चित्रा चेत्येवं नित्यास्तु षोडश।।[23]

कौलावलीनिर्णय में त्रिपुरा के नौ प्रमुख नाम कहे गये हैं—

त्रिपुरा त्रिपुरेशी च सुन्दरी पुरवासिनी।
श्रीर्मालिनी च सिद्धाम्बा महात्रिपुरसुन्दरी।।[24]

कौलावलीनिर्णय में काल-मुहूर्त्त आदि का विस्तार से विचार किया गया है। संवत्सरपर्यन्त तक का नित्य-नैमित्तिक क्रम वर्णित है। वैशाख मास के शुक्ल प्रतिपदा को ब्रह्म मुहूर्त्त में स्नानादि करके अनुष्ठान का प्रारम्भ करना चाहिए—

अथ वैशाख मासस्य शुक्लप्रतिपदीश्वरी।
ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय स्नानं सन्ध्यामुपास्य च।।
मनोज्ञे रहसि स्थाने ...।[25]

शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से आरम्भ कर कृष्ण चतुर्दशी तक तथा अमावस्या के दिन वित्तशाठ्यता नहीं करते हुए उदार, प्रसन्नचित्त से देवी का अर्चन करें—

---

22. *अर्थरत्नावली* टीका।
23. *नित्याषोडशिकार्णव,* 1.25-26.
24. *कौलावली* निर्णय, 15.129.
25. *कौलावली* निर्णय, 15.157-158.

एवं शुक्लप्रतिपदं समारभ्य दिने दिने।
कुर्याज्जपार्चनं कृष्णचतुर्दश्यन्तमम्बिके।
अमावास्यादिने धीरः पूजयेत् भक्तकौलिकान्।।[26]

शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष दोनों से ही पूजन प्रारम्भ किया जा सकता है। त्रिपुरा का पूजन नित्य एवं काम्य भेद से तन्त्रों में विहित है।

सङ्क्षेप में यही कहा जा सकता है किसी भी पद्धति से पूजन करने पर साधक का कल्याण ही होता है। सप्तशती में तो स्पष्ट उद्घोष किया गया है—**आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा।**[27]

साधक के लिए अति आवश्यक है। स्त्रीमात्र का अपमान न करे। किसी कारण से यदि स्त्री से कोई अपराध भी हो जाए तो भी क्रोध न करे अन्यथा भगवती कुपित होती है—

कन्यां कुमारिकां नग्नामुन्मत्तां च योषितम्।
न निन्देन्न जुगुप्सेत न हसेन्नावमानयेत्।।
या काचिदद्वाना लोके सा मातृकुलसम्भवा।
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो वनितानामतिक्रमात्।
स्त्रीणां शतापराधेन पुष्पेणापि ताडयेत्।।[28]

इस जगत् को उपासक स्त्रीमय ही देखें। देवी भागवत के अनुसार शाक्त सम्प्रदाय में उपासक स्त्रीरूप ही हो जाता है। संसार की सभी स्त्रियाँ पराम्बा से उत्पन्न हैं—**स्त्रिया समस्ताः सकला जगत्सु।**[29]

अन्यत्र भी—

स्त्रीमयञ्च जगत् सर्वं स्वयं तावत्तथा भवेत्।
न हिंसेदखिलान् जन्तून्न निन्देत् वामलोचनाम्।।[30]

ऐसे तो किसी भी साधक के लिए आचार आवश्यक है किन्तु शाक्त पूजन में विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। काम-क्रोध-लोभ-मोह से परहेज करें—

कन्यायोनिं पशुक्रीडां दिग्वस्त्रां प्रकटस्तनीम्।
नालोकयेत् परद्रव्यं परदाराश्च वर्जयेत्।।[31]

---

26. *कौलावली निर्णय*, 15.162.
27. *दुर्गासप्तशती*, 13 अध्याय।
28. *कौलावली निर्णय*, 10.67-70.
29. *दुर्गासप्तशती*, 11 अध्याय।
30. *कौलावली निर्णय*, 10.72.

सौभाग्यभास्कर में सुन्दरी की उपासना अन्तर्याग एवं बहिर्याग भेद से द्विविध है। त्रिपुरसुन्दरी का उपासना फल भोग व मोक्ष दोनों ही है—

श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

इस साधना में जप का विशिष्ट महत्त्व है। आगमग्रन्थों में त्रिविध जप वर्णित है—भाष्य, उपांशु, मानस। क्षुद्रसिद्धि के लिए भाष्यजप मध्यम के लिए उपांशु तथा श्रेष्ठतम मानस जप है—

निगदेन यदा जप्तं लक्षं चोपांशुना कृतम्।
मानसेन महेशानि कोटिजापफलं लभेत्।।[32]

चतुर्वर्गसिद्धि के लिए त्रिपुरोपासना करें। शान्ति:।

सहायक आचार्य,
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालय:,
मदाऊ, भाँकरोटा, जयपुर
9166227681

31. *कौलावली निर्णय*, 10.61.
32. *नित्याषोडशिकार्णव*, 5.18.

त्रिकदर्शनोक्त पञ्चधा शक्ति : एक विमर्श

डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी

त्रिकदर्शन में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद स्वीकार किया गया है। शक्ति के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। अत: शङ्कराचार्य ने शक्ति का सामर्थ्य को स्पष्ट करते हुए *सौन्दर्यलहरी* के प्रारम्भ में कहा है—

शिवश्शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्य: प्रभवति।।[1]

इस शक्ति को स्पष्ट करते हुए *श्रीविज्ञानभैरव* में कहा गया है—

शकनं शक्ति:–सामर्थ्यं विश्वनिर्माणादिकारि भैरवस्वरूपमेव।[2]

शक्ति के यथार्थस्वरूप की अनुभूति ही प्राणि को जीव से शिव बना देती है। शक्तिभूमिका पर आरोहण शिवभाव में प्रवेश कहलाता है। यह शक्ति शिवमुखा है। यथा—

शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवीमुखमिहोच्यते।।[3]

यहाँ पर चैतन्य स्वरूपक शक्तिमान् और उसकी शक्ति एक ही है। यह चैतन्यात्मा ही विश्व का स्वरूप है। चैतन्यरूपा शक्ति चिद्घन शिव की चितिशक्ति है और शिव से अभिन्न है। वह्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान ये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसके विषय में कहा गया है कि—

न शिव: शक्तिरहितो न शक्ति: शिववर्जिता।
उभयोरस्ति तादात्म्यं वह्निदाहकयोरिव।।

---

1. *सौन्दर्यलहरी,* 1.
2. *विज्ञानभैरव,* 1.
3. *श्रीतन्त्रालोकविवेक,* 1/1.

शिव एक है और उसकी शक्ति भी एक है परन्तु यह शक्ति विभिन्न स्वरूपों में अपने आपको प्रकाशित करती हुई स्वयं नाना वैचित्र्यमय अनन्तरूपात्मक विश्व बन जाती है। इसके स्पष्टीकरण में *स्वच्छन्दतन्त्र* में कहा गया है कि—

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान्।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि! भेदैरानन्त्यसम्भवैः।।[4]

शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने से चैतन्य की यह महाशक्ति स्वयं शिव है और जीव भी है। यह शक्ति ही स्फुरत्ता है। समस्त प्रपञ्च को सत्ता प्रदान करती हुई देश, काल और आकार को मूर्त्त बनाती है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* में कहा गया है कि—

सा स्फुरत्ता महासत्ता, खपुष्प...।[5]

पशुपतिभूमिका में यह शक्ति चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के रूप में स्थित है। वस्तुतः अवस्थारूप ये पाँच शक्तियाँ ही हैं। इन्हें हम दो कोटी में रख सकते हैं। जैसे—चित्शक्ति और आनन्दशक्ति एक कोटी तथा इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति एक कोटी। प्रस्तुत शोधलेख इन शक्तियों पर ही आश्रित है। इसमें इनके विषय पर यथामति विवेचन किया जाएगा।

क. चित्शक्ति

यह प्रकाश के प्रकाशस्वरूप से अतिरिक्त नहीं है। अतः प्रकाश की प्रकाशरूपता चित् शक्ति है। *तन्त्रसार* में कहा गया है—

प्रकाशरूपा चिच्छक्तिः।[6]

चिति को भी चित् शक्ति कहा जाता है। यह चितिशक्ति तुर्यातीत पदात्मिका पराशक्ति है। *श्रीतन्त्रालोक* में कहा गया है—

चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परसम्वित्।[7]

ख. आनन्दशक्ति

परमशिवभट्टारक का स्वातन्त्र्य ही उसकी आनन्दशक्ति है। इसके स्पष्टीकरण में *तन्त्रसार* में कहा गया है—

---

4. *स्वच्छन्दतन्त्र,* 11/272.
5. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी,* 1/5/14.
6. *तन्त्रसार,* प्रथमाह्निक।
7. *तन्त्रालोकविवेक,* 5/93.

स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।[8]

इसी स्वातन्त्र्यशक्ति के कारण ही अनुत्तर प्रकाशरूप शिवभट्टारक आनन्दरूप में प्रसृत होता है। *श्रीतन्त्रालोक* के अनुसार अकार और हकार (आकार) का जो यामलरूप है वह सङ्घट्ट कहा जाता है, वही आनन्दशक्ति है। इसी से विश्व की सृष्टि होती है। जैसे—

तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते।।[9]

इसी के स्पष्टीकरण में जयरथ ने विवेक में कहा है—

अतश्च प्रकाशविमर्शात्मनोनुत्तरयोरेव सङ्घट्टादानन्दशक्त्यामात्मनो द्वितीयवर्णस्य उदयो यतः इच्छाद्यात्मनो विश्वस्य सर्गः।[10]

व्यवहार क्रम में भी स्त्री और पुरुष का सङ्घट्ट होने पर आनन्द का उदय होता है तथा उससे सृष्टि होती है। जैसे—

चर्याक्रमेऽपि स्त्रीपुंसयोः सङ्घट्ट एवानन्दोदयाद्विसर्गः।[11]

ग. इच्छाशक्ति

परमशिवभट्टारक की स्वातन्त्र्यशक्ति जब विश्व के रूप में अभिव्यक्त होने के लिए उन्मुख होती है तब प्रथमतया जिस शक्ति का रूप धारण करती है उसे इच्छाशक्ति कहा जाता है। इसे स्वातन्त्र्य (आनन्द) शक्ति का चमत्कार भी कहा गया है। जेसे—

तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः।[12]

श्रीतन्त्रालोक के अनुसार उपर्युक्त सङ्घट्ट में चित् की प्रधानता के कारण जो प्रत्यवमर्शन होता है वह इच्छाशक्ति है। जैसे—

सङ्घट्टेऽस्मिंश्चिदात्मत्वाद्यत्तत्प्रत्यवमर्शनम्।
इच्छाशक्तिरघोराणां शक्तीनां सा परा प्रभुः।[13]

---

8. *तन्त्रसार,* प्रथमाह्निक।
9. *श्रीतन्त्रालोक,* 3/68.
10. *तन्त्रालोकविवेक,* 3/68.
11. *तत्रैव.*
12. *तन्त्रसार,* प्रथमाह्निक।
13. *श्रीतन्त्रालोक, 3/71-72.*

इसी को स्पष्ट करते हुए जयरथ ने कहा है—

अस्मिन् समनन्तरोक्तरूपे सङ्घट्टे 'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्...' इत्याद्युक्त्या चितः प्राधान्यात् योऽयं परस्य प्रमातुः सिसृक्षात्मा परामर्श उदेति सेयमिच्छाख्या शक्तिः।[14]

इसी प्रत्यवमर्शन के द्वारा प्रकाश में विभुत्व, नित्यत्व आदि का आक्षेप हो जाता है। इसी प्रत्यवमर्शन के चमत्कार से इच्छाशक्ति का उदय होता है। चित् के प्रधानता के कारण परप्रमाता में सिसृक्षारूप परामर्श (प्रत्यवमर्शन) के उदय से ही इच्छाशक्ति अभिव्यक्त हो जाती है। अतः प्रकाश का चमत्कार ही इच्छाशक्ति है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा* में इस इच्छाशक्ति की द्विरूपता कही गई है। जैसे—1. केवल इच्छामात्ररूप वाली स्रष्टव्य से दूर, 2. प्रयत्नता को प्राप्त सन्निकृष्ट। जैसे—

सा केवलमिच्छारूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा।
कचित्पुनः प्रयत्नतामापन्नां सन्निकृष्टा।।

घ. ज्ञानशक्ति

इच्छाशक्ति द्वारा परिणमित आमर्शात्मकता ही ज्ञानशक्ति है। अतः इसके स्वरूप स्पष्टीकरण में *तन्त्रसार* में कहा गया है—

आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः।[15]

इच्छा और ज्ञान के अनिवार्य पौर्वापर्यता के कारण ही इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति का आधारभूत है। अन्तर्विजिज्ञास्य विश्व का उन्मेष बोध का विषय है। यद्यपि यहाँ पर स्वात्मपरामर्श होता है तथापि विश्वोन्मेष के आद्य परिस्पन्द का ज्ञान प्रकाशस्वरूप शिवभट्टारक की ज्ञानशक्ति द्वारा सम्पन्न होता है क्योंकि उन्मेषदशा का बोध ज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः *श्रीतन्त्रालोक* में कहा गया है—

स्वात्मप्रत्यवमर्शो यः प्रागभूदेकबीरकः।।
ज्ञानव्यविश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्तितया स्थितः।[16]

इह खलु प्राक् प्रक्षुब्धत्वरूपत्वात्पूर्वं व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् स्वात्ममात्रनिष्ठः, अत एव एकवीरको यः परामर्शः आसीत्, स एव ज्ञानशक्तित्वेन अन्तर्विजिज्ञास्यतया इष्टस्य योऽसौ उन्मेष=:आद्य परिस्पन्दः, तद्रूपः सन् अवस्थितः इति।[17]

---

14. *श्रीतन्त्रालोकविवेक,* 3/71-72.
15. *तन्त्रसार,* प्रथमाह्निक।
16. *श्रीतन्त्रालोक,* 3/73-74.
17. *श्रीतन्त्रालोकविवेक,* 3/73-74.

ज्ञान की प्रक्रिया दो प्रकार की है। जैसे—ज्ञातृरूप और ज्ञेयरूप। इसमें चिदात्मा ज्ञाता ज्ञेयरूप में अपना अवभास कराता है। अत: ज्ञातृ तथा ज्ञेय—इन दोनों रूपों का अवभासन करके जो शक्ति ज्ञान कराती है, उसे ज्ञानशक्ति कह सकते हैं।

ङ. क्रियाशक्ति

परमशिवभट्टारक की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द ज्ञानशक्ति तथा उसका बहिर्मुख स्पन्द क्रियाशक्ति है अथवा यह कह सकते हैं कि शिवभट्टारक जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मकभाव से विविध पदार्थों का भेदावभासन करता है, वह क्रियाशक्ति है। *तन्त्रसार* में इसे सर्वाकारयोगित्व कहा गया है। जैसे—

सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति:।[18]

इस क्रियाशक्ति की स्फुट अभिव्यक्ति को दर्शाते हुए श्री अभिनव गुप्त ने कहा है—

त एवोन्मेषयोगेऽपि पुनस्तन्मयतां गते।।
क्रियाशक्ते: स्फुटं रूपमभिव्यङ्क्त: परस्परम्।[19]

प्रकाशवपु परमशिवभट्टारक के ये पाँच अवस्थारूप शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों से वह परमशिव शक्तिमान् है। इन पाँचों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीन शक्तियों का प्राधान्य है क्योंकि चित्शक्ति और आनन्दशक्ति शिव तथा शक्ति की यामल अवस्था है। यह यामलरूप सङ्घट्ट इच्छा, ज्ञान और क्रिया से ही सम्पन्न होकर अनवच्छिन्नरूप से प्रकाशित होता है। *तन्त्रसार* के अनुसार यह परमशिवभट्टारक स्वातन्त्र्यशक्ति के बल से उन शक्तियों के मुख्यरूप से प्रकट करते हुए पाँच प्रकार से विद्यमान है। चित्प्राधान्य में शिवतत्त्व, आनन्दप्राधान्य में शक्तितत्त्व, इच्छाप्राधान्य में सदाशिवतत्त्व, ज्ञानशक्तिप्राधान्य में ईश्वरतत्त्व और क्रियाशक्तिप्राधान्य में विद्यातत्त्व होता है। जैसे कहा गया है—

स स्वातन्त्र्यात् शक्तिं तां तां मुख्यतया प्रकटयन् पञ्चधा तिष्ठति, चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्, आनन्दप्राधान्ये शक्तितत्त्वम्, इच्छाप्राधान्ये सदाशिवतत्त्वम्। इच्छाया हि ज्ञानक्रिययो: साम्यरूपाभ्युपगमात्मकत्वात्, ज्ञानशक्तिप्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम् क्रियाशक्तिप्राधान्य विद्यातत्त्वम् इति।[20]

वस्तुत: परमशिवभट्टारक का ऐश्वर्य ही इन शक्तिरूपों से अभिव्यक्त होता है। वह चिन्मात्रस्वभाववाला होने से चिन्मय की स्थिति में शिवतत्त्व कही जाती है। वह अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से अपनी शक्तियों को विविध अवस्थाओं में अभिव्यक्त करता है। स्वातन्त्र्य की इस विमर्शदशा में 'अहमस्मि' की प्रतीति होती है। इसमें

18. *तन्त्रसार,* प्रथमाह्निक।
19. *श्रीतन्त्रालोक,* 3/96-97.
20. *तन्त्रसार,* अष्टमाह्निक।

शक्तितत्त्व का यामल सङ्घट्ट रहता है। जब विमर्श की स्थिति में इच्छाशक्ति का प्राधान्य होता है, तब वह सदाशिवतत्त्व कहलाता है। इस दशा में 'अहम् अहम्' का परामर्श होने लगता है। इसमें अहमंश शुद्धचिन्मात्र का आधार है तथा उसमें वह इदमंश को उल्लसित कर देता है। इसमें इदमंश अस्फुट रहता है। इसी को क्षेमराज ने कहा भी है—

सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादित अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यम्।[21]

ज्ञानशक्ति के प्राधान्य में ईश्वरतत्त्व कहलाता है। इसमें 'इदमंश' स्फुट होकर 'इदम् अहम्' का बोध होता है। क्रियाशक्ति के प्राधान्यरूप विद्यातत्त्व में यह परामर्श पूर्णतया भिन्न होता है। इसमें पार्थक्य का प्रथन तथा 'इदमंश' पूर्णतया स्फुरित हो जाता है। इन सभी अवस्थाओं में शिव का प्राच्यरूप का स्खलन नहीं होता है।

अस्तु, इस प्रकार इन पाँचों शक्तियों के सामानाधिकरण्य से एकात्मना स्थित रहते हुए भी अख्याति के कारण पञ्चकञ्चुकों से संवलित होकर पञ्चकस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। ये शक्ति आदि तत्त्वसमूह पशु के कञ्चुक कहलाते हैं। जैसे कि कहा गया है—

शक्त्यादिस्तत्त्ववर्गस्तु कञ्चुकत्वेन वै पशोः।
शक्तिर्माया कला विद्या कालो नियतिरेव च।
सदाशिवेश्वरौ विद्या रागस्तु वरवर्णिनी।।[22]

यह माया के कारण ही सम्भव होता है, क्योंकि माया परमतत्त्व के स्वरूप को छिपा लेती है। इसमें शिव के साथ ऐकात्म्य भाव से स्थित विश्व भी विलुप्त हो जाता है। इन पाँचों तत्त्वों को माया के साथ अन्तरङ्ग कञ्चुक कहा जाता है।

सहाचार्य,
विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं
भारत-भारती अनुशीलन संस्थान,
पञ्जाब विश्वविद्यालय, साधु आश्रम,
होशियारपुर, पञ्जाब।

21. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्,* 3.
22. *उद्धृत, श्रीतन्त्रालोक,* 6/43.

कश्मीर शैवत्रिकाचार्य स्वामी राम

प्रो. चमनलाल रैणा

बात है 9वीं शताब्दी की, स्थान महादेव पर्वत शृंखला, काश्मीर...न जाने तब से कितना पानी बह गया, वितस्ता नदी से, जब आचार्य वसुगुप्त ने शिव सूत्र, गणना में जो 77 है, उन आगम सूत्रों को अपने आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनाया। ये सूत्र कश्मीर शैवागम के अन्तर्गत आते हैं। इन्हीं सूत्रों से कश्मीर के *त्रिकशास्त्र* का, अथवा यूँ कहिए *त्रिकशासन* का आविर्भाव हुआ। सूत्रपात हुआ शैवी दार्शनिक चेतना का, वाक् प्रस्फुटित हुआ। इसी चैतन्यमयी अवस्था का प्रवृत्ति मार्ग अद्वैत शिव तत्त्व देखने में मिला। उसी के अन्तर्गत कश्मीर की सुरम्य घाटी में प्रकृति के सौन्दर्य के साथ-साथ शिवाद्वैत की वितस्ता रूपिणी मन्दाकिनी नई धाराओं के साथ बहने लगी, जिसका नाम 'वृत्ति और वर्त्तिका' पड़ गया। उस त्रिक चिन्तन पर बहुत कुछ शोध हुआ भी है और शोध हो भी रहा है क्योंकि यह जीवन के साथ जुड़ी हुई विचारधारा है, जो 36 तत्त्वों के नाम से समाहृत है। आज से 1100 वर्ष पूर्व उस दार्शनिक चेतना का उद्गम हुआ, जिसे 'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र' नाम से भी जाना जाता है। स्पन्द शास्त्र की आधारशिला त्रिकशास्त्र की गरिमा है। स्वयं ज्योति: स्वरूप त्रिकशासन की कला सृष्टि की विधायिनी होने के कारण एक स्वत: विलास है। सर्जनात्मक शक्ति भिन्न-भिन्न कर्त्तृत्व में प्रकाशित होकर उल्लसित होती है। अत: संवित् शक्ति की अनन्त प्रतिभा, सूर्य की आभा जैसी प्रकाश में उल्लास पैदाकर, विमर्श की अभीप्सा बन जाती है। इसी प्रकार गति के साथ अन्य तत्त्वों का सामंजस्य रहता है। पृथ्वी तत्त्व से शिव तत्त्व तक के 36 तत्त्व, दर्शन की परिभाषा को त्यागकर जीव-शिव एक रूप समरसता का विलास बनता है। यही शैव दर्शन का सौन्दर्य शास्त्र भी है, साधना की पराकाष्ठा भी है, जिसमें आत्मिक प्रकाश शिव का स्वरूप है। प्रकाश की स्फूर्ति से 'भैरव' भरण, रवण तथा वमन का बीज रूप है। वही भैरव चक्र प्रतिपदा की व्याख्या समझने में सहायक बन जाता है। इसीलिए शैव शास्त्रों में कहा गया है—

ॐ ह्रीं श्रीं देवीपुत्रवटुकभैरवाय नम:।

यही कश्मीर शिवरात्रि सिद्धान्त कहलाता है जिससे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष (शिव कैवल्य अथवा परिनिर्वाण) की स्थिति है। वही शिव का स्वातन्त्र्य भाव सर्जित होता है, परन्तु शक्ति अपने उन्मेष से विश्व का प्रसार करती है। अत: शक्ति विश्व जननी नाम से पूजित है। इन 36 तत्त्वों में प्रकृति तत्त्व प्रत्यक्ष रूप से गोचर है। आचार्य अभिनव गुप्त तन्त्रालोक में वर्णन करते हैं—

आस्थास्यत्येकरूपेण वहुधा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तुतदन्यद् घटादिवत्।।

यदि परम सत्ता अनन्त रूपों में व्यक्त नहीं होती और केवल निष्कल भाव से रहती तो परम सत्ता—'महेश्वरः त्वम्' न चेतन रूप हो जाता और न ही सकल बन जाता है। महेश्वर मात्र 'घट' अथवा जड़ भाव में ही रहता है, परन्तु ऐसा विधान नहीं है। वस्तुतः त्रिक विचारधारा एक चिन्तन है। इसमें मानव चेतना के सामने चार आवश्यक बातों को केन्द्रस्थ कर माना गया है—कि मन की उच्चतम चेतना पर विश्वास, जीव का विकास, अनुभव के आधार पर सत्य का पर्यवेक्षण, ज्ञान शक्ति के आधार परा एवं प्रकृति के साथ निकट का सम्बन्ध व सन्तुलन बनाये रखना है। इन सभी सिद्धान्तों को जीवन में उतार कर 'त्रिकशासन/शास्त्र' के अन्तर्गत जीवन शक्ति के साथ तादात्म्य बनाकर शाक्तोपाय में तल्लीन होकर कहता है—

विश्वव्यापिनि यद्वदीश्वर इति, स्थाणावनन्याश्रयः
शब्दशक्तिरिति त्रिलोकजननि! त्वय्येव तथ्यस्थितिः।
इत्थं सत्यपि शक्नुवन्ति यदि मा क्षुद्रा रुजो बाधितुं
त्वद्भक्तानपि न क्षिणोषि च यत् तद्देवि! चित्रं महत्।। (श्री पञ्चस्तवी 2-6)

हे तीनों लोकों की जननी जिस प्रकार स्वतन्त्र ईश्वर शब्द सर्वव्यापक शिव के लिए प्रयुक्त होता है वैसे ही 'शक्ति' रूपिणी शब्द तुम्हारे लिए सार्थक रूप में प्रयुक्त होता है। ऐसा होने पर भी यदि तुच्छ कष्ट तुम्हारे भक्तों को कष्ट देने के लिए समर्थ बनते हैं, तो क्रोधित होकर उनको नष्ट क्यों नहीं करती हो।

(यही पुत्र और माता का सम्बन्ध है जिसमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार की बात है।) ईश्वर-कर्तुं-अकर्तुं समर्थः है, शक्ति अघटन-घटीयसी, अर्थात् सर्वशक्ति युक्तवती है। यही पराशक्ति से पूजित है। शुद्ध विद्या का आविर्भाव यहीं से अवरोहित होता है। तन्त्रालोक में वर्णित है—

परामर्शः स एवोक्तोऽद्वयसम्पत्तिलक्षणः।
अनुत्तरविसर्गात्मशिवशक्ति-द्वयात्मनि।। (तृतीय आह्निक, श्लोक 203)

वह शिव अद्वय सम्पत्ति लक्षण युक्त होकर वास्तव में शुद्ध विद्या युक्त केवल एक परामर्श है। उसी वास्तविक परामर्श के आधार पर मैं कृतसङ्कल्प हूँ कि तुम विभु वैभव युक्त हो। स्वतन्त्र शक्ति के परिणाम स्वरूप हो।

कश्मीर की ऋषि भूमि में कश्मीर शैव दर्शन के शक्ति तत्त्व ने शैवदर्शन की पृष्ठभूमि में नये आयाम खोल दिए। कश्मीर प्रदेश का कण-कण देवता बन गया। प्रत्येक कङ्कर में शङ्कर का आभास हुआ, सरिताएँ, नाग, जल कुण्ड शक्ति तत्त्व के तीर्थ स्थलियाँ बन गईं, जैसे अमृत कुण्ड, शारिका पर्वत, क्षीर भवानी कुण्ड, ज्येष्ठा कुण्ड आदि।

समय-समय पर साधकों ने इन तीर्थों में जाकर अन्तर्ज्ञान द्वारा *श्रीशारदा सहस्रनाम, श्रीत्रिपुरसुन्दरी सहस्रनाम, श्रीमहाराज्ञी सहस्रनाम, श्रीशारिका सहस्रनाम* आदि का प्रत्यभिज्ञा स्वरूपिणी स्पन्द प्राप्त किया, विकसित हुआ, अन्तर्याग द्वारा शिव-शक्ति एक रूप का योग तथा बहिर्याग द्वारा आगम अनुष्ठान, जिसमें भवानी सहस्रनाम साधारण जन के हृदय को भी स्पन्दित कर बैठा।

कालान्तर में 14वीं शताब्दी से त्रिकदर्शन का आंशिक लोप हुआ परन्तु 19वीं ई. शती में स्वामिन् औपमन्यु गोत्र से सम्बन्धी एक विप्र ब्राह्मण के घर में फाल्गुन कृष्ण पक्ष द्वादशी के अनुराधा नक्षत्र की शुभ वेला में शिशु ने जन्म लिया 4930 लौकिक सप्तर्षि संवत् तदनुसार विक्रमी 1910 एवं 1854 ई. में शिशु रामजी ने जन्म लिया। इनके पिताश्री का नाम पण्डित शुकदेव जी था। वैदिक एवं पौराणिक पद्धति के पण्डितों में इनका नाम था। जहाँ शिशु रामजी ने जन्म लिया, वह मौहल्ला (महालय) वितस्ता नदी के सोमयार तट पर स्थित है, जहाँ सोमवती अमावस्या के दिन पवित्र वितस्ता में जप-तप, व्रत, दान, स्नान नियमित रूप से किया जाता है।

महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने भी भैरव स्तोत्र के आठवें श्लोक में कहा है—

शङ्कर! सत्यमिदं व्रतदानस्नानतपोभवतापविनाशि।
तावकशास्त्रपरामृतचिन्ता सिध्यति चेतसि निवृत्तिधारा।।

हे शङ्कर! यद्यपि व्रतदान तप से संसार के दु:खों का नाश होता है तथापि भक्त शैवशास्त्र की 'चैतन्य स्वरूप अवस्था' में तल्लीन होकर उनके मन में अमृत की धाराएँ बहने लगती हैं।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण त्रिकाचार्य स्वामी राम जी महाराज के व्यक्तित्व से तथा योग, अनुष्ठान, तपस्या आदि कर्मों से लुप्त प्राय कश्मीर शैव दर्शन को अपनी साधना, योग तथा स्वातन्त्र्य दीपिका एवं *शिवसूत्र* एवं इसकी *विमर्शिनी* का आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थात् शिवाद्वैत की पारम्परिक दृष्टि से अध्ययन किया और अपने शिष्यों का भी अध्यापन करा लिया। उनके प्रमुख शिष्यों में स्वामी विद्याधर जी (सत्थू-शीतलनाथ, श्रीनगर निवासी), स्वामी माहताब काक, जिन्होंने बालक लक्ष्मण को शैवी दीक्षा से अनुगृहीत किया, वही बालक फिर अन्तरराष्ट्रिय स्तर के शैवाचार्य के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका। उनके एक और शिष्य स्वामी गोविन्द कौल जलाली थे, जिन्होंने तत्कालीन विद्यार्थियों को *पराप्रवेशिका, शिवसूत्र, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, शिवस्तोत्रावली* जिसका तात्पर्य जो उन्होंने अपने गुरु से प्राप्त किया था, वही ज्ञान प्रदान किया। इस शृंखला में महात्मा श्रीधर वानानू (बौद्ध), महात्मा ताराचन्द, महात्मा काशीनाथ जी ने पारम्परिक विधि से शैवशास्त्र का अध्ययन किया।

स्वामी रामजी महाराज का निर्वाण विक्रम संवत् 1972 शिव चतुर्दशी माघ कृष्ण पक्ष की चौदस को फतेह कदल स्थित शैवत्रिकाश्रम में दिन के पूर्वाह्न के समय हुआ आज पूरा एक सौ दो वर्ष बीत गया। इन्हीं

के कारण, हस्तलिखित ग्रन्थों का चयन किया गया। तत्कालीन महाराज श्री प्रताप सिंह उनके शिष्यों में से थे। स्वामीजी की प्रेरणा से ही तत्कालीन महाराजा ने शारदा लिपि में हस्तलिखितों को राज्य सरकार के तत्त्वाधीन 'कश्मीर रिसर्च डिपार्टमेन्ट' की नींव डाल दी और *तन्त्रालोक* को वाल्यूमों में प्रकाशित किया।

इस प्रकार त्रिकशास्त्र का नाम काश्मीर शैव दर्शन पड़ा। *काश्मीर शैवीज्म* पुस्तक (अंग्रेजी) में है। जे.सी. चटर्जी ने 1914 ई. में 70 से अधिक ग्रन्थों की समीक्षा करके, एक प्रकार से त्रिकशास्त्र का ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय वर्गीकरण इस पुस्तक में किया। हालाँकि यह अनुसन्धान विभाग एस.पी.एस. लाईब्रीज के अन्तर्गत था। अंग्रेजी भाषा में सर्वप्रथम यही अधिकृत पुस्तक मानी जाती है। इसका अनुमान इस प्रकार से लगाया जाता है कि यूरोप तथा अमेरिका की कई विश्वविद्यालयों ने इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण किया है।

स्वामी रामजी के कई और शिष्य थे जो या व्यवसायी थे या शासन अधिकारी जिनमें पण्डित लाल कौल और पण्डित नारायणदास रैना को अधिक लोग जानते हैं। उन्हीं के सुपुत्र स्वामी लक्ष्मण जू थे। स्वामी विद्याधर जी ने *विद्याधर स्तव* लिखकर शैवी परम्परा को काव्य की दृष्टि से आगे बढ़ाया। स्वामी विवेकानन्द भी त्रिकाचार्य स्वामी जी के पास मिलने के लिए आए थे।

स्वामी जी ने शैव दर्शन के कई ग्रन्थों को काश्मीरी भाषा में अपने भक्तों को समझाया। *श्रीपञ्चस्तवी* पर विस्तृत व्याख्या कई मासों तक करते रहते थे। इस प्रकार उन्होंने लौगाक्षि मुनि की वैदिक एवं आणविक प्रणाली को जीवित भी रखा और ज्वलन्त भी।

पूरी शताब्दी बीत गई परन्तु आज भी भक्त जन उनके जन्मदिन पर पूजा-पाठ, ध्यान-योग के अतिरिक्त सामाजिक कार्यक्रम भी करते रहते हैं। उनकी पुण्यतिथि पर शैवी श्राद्ध भी होता रहता है। उनके परम शिष्य स्वामी विद्याधर जी ने उनका परिचय देते हुए कहा है—

या सर्वात्मखिलजनविभुर्देवदेवो महेशः।
स्वातन्त्र्यस्थो ध्रुवपदगतो निश्चलात्मा वरेण्यः।।
विश्वोत्तीर्णो भवभयहरः स्वेच्छया विश्वपूर्णः।
श्रीरामं त्रिभुवन गुरुमात्मरूपं नमामि।।

आत्मस्वरूप त्रिभुवन भूः भुवः स्वः के गुरु जो सर्वात्म हैं समस्त प्राणियों के अधिष्ठाता, देवाधिदेव महेश्वर, स्वातन्त्र्यभाव में ही जो संवित् शक्ति को धारण किए हैं। ध्रुपद जिनकी साधना स्थली है, एकाग्रचित्त भाव में अचल, दृढ़, स्थावर, शाश्वत स्वरूप में रमण करते-करते विश्व से उत्तीर्ण हुए, भव बन्धन के कष्ट का संहार करने वाले जो हैं। जिन्होंने स्वेच्छा से विश्व को पूर्ण स्वरूप दिया है। उन्हीं स्वामी श्रीराम को नमन करते हुए, हम उन्हें अपनी धारणा में लाते हैं।

प्रसन्नैकचितं दयासान्द्रमन्तः प्रकामं हितं श्रीशिवप्रेष्ठगोत्रम्।
शिवाद्वैतसिद्धान्तविश्रान्तिक्षेत्रं स्वतन्त्रं भजे सद्गुरुं रामचन्द्रम्।। (श्लोक 1)

एकाग्र है चित्त जिनका, मुद्रा जिनकी प्रसन्नता है, दयानिधान अन्तराल में आसीन, जगत के हितैषी, श्रीशिव प्रेष्ठ (स्वामिन् औपमन्यु) गोत्र को सुशोभित करने वाले, शिवाद्वैत के सिद्धान्त के पुनः प्रकट करने के लिए, जिनके स्वाध्याय का क्षेत्र 'शिवशक्ति अणु सायुज्य' है। ऐसे सद्गुरु श्रीराम चन्द्र को नमन करता हूँ, उनका भजन करता हूँ, जो अहर्निश स्वच्छन्द-स्वतन्त्र भाव-विभाव में विराजमान रहते हैं। शब्द माधुर्य से शब्द शक्ति एवं परम शिव के स्पन्द को उल्लास रूप में देखते हैं।

(यः) शैवारण्यं परममृतं निर्गतं स्वाननाब्जात्।
तत्पादाब्जानुगतमनसो भक्तवन्दानपीप्यत्।।
एतद्देहं परित्यजत्यगाच्छाश्वतं शैवधाम्।
तं श्रीरामं त्रिभुवनगुरुं स्वात्मरूपं नमामि।। (श्लोक 10)

जिन्होंने शैवशास्त्रों की व्याख्या करके, परम अमृत पद का लौकिक कश्मीरी भाषा में, अपने मुखारविन्द से भक्तजनों (आचार्य अभिनव गुप्त पाद की मर्यादा में दीक्षित) को उल्लसित किया, जिनकी शैवसाधना को परिमार्जित एवं परिष्कृत किया। इन 36 तत्त्वों पर आरोहित होकर, पुनः शरीर परित्याग करने पर भी शाश्वत शैवधाम से अवरोहित होकर, मैं उन्हीं त्रिभुवन के गुरु त्रिकाचार्य स्वामी श्रीराम को नमन करता हूँ, जो मेरा अपना ही रूप है अर्थात् उनमें और मुझ में शैव दृष्टि से अभेद है। इति शुभम्।

(पूर्वप्रोफेसर, फ्लोरिडा अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय)
2-ख-19, शास्त्रीनगर,
अजमेर-305001
दूरभाषा : 01452621432

शैवागमस्वरूप–मीमांसा

विमल चन्द्र काण्डपाल

भारतभूमि सम्पूर्ण भू–मण्डल पर अवस्थित ऐसी भूमि है जहाँ अनादिकाल से ही नित्य–निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन, आत्म–स्वरूप विचार, आत्म–कल्याण बोध हेतु पण्डितजन सम्पूर्ण जीवन परिश्रम करते हैं तथा भौतिकता की चमक से कहीं दूर रहकर स्वात्मलाभ में परमसुख का अनुभव करके परमानन्द में निमग्न रहते हैं। वैदिक साहित्य, पुराण, स्मृतियों में भी ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध, उनका स्वरूप तथा बन्धन–मोक्ष का स्वरूप एवं इस संसार की सृष्टि–संहार प्रक्रिया पर हमारे पूज्य वैज्ञानिक ऋषियों ने अत्यन्त परिश्रम किया।

भारतीय दार्शनिक परम्परा समस्त दर्शनों का तथा आगमों के स्रोत के रूप में भगवान् वेद का स्मरण करती है। वेद परमेश्वर के निःश्वास होने से स्वत: ही प्रकट है।[1] सृष्टि के अन्त में परमेश्वर के ही निःश्वास में सङ्कोच को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु 'आगम–शास्त्र' परम्परा विरोध के माध्यम से प्राप्तव्य है उसके बीजरूपेण उपदेष्टा भगवान् शिव हैं और श्रोता भगवती पार्वती है। *स्वच्छन्दतन्त्र* में आया है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं हि वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।[2]

आगम का उपदेश गुरु–परम्परा सम्बन्धों की अपेक्षा करते हुए कुछ अनुशासनों की अपेक्षा भी करता है। शास्त्रों में वचन प्राप्त होते हैं कि गुरु आगम द्वारा छात्रों को अनुशासित करते हैं।

आगम शब्दार्थ

आङ् पूर्वक गम् धातु से 'गृहवृद्धनिश्चगमश्च'[3] इस सूत्र से कर्म में करण अथवा अधिकरण में 'अप्' प्रत्यय से 'आगम्यते यो येन यत्र वा' इस विग्रह से आगम शब्द निष्पन्न होता है जिसके अर्थ होते हैं—गति प्राप्ति, ज्ञान, अथवा सम्यक् प्राप्ति विषय, सम्यक् प्राप्ति साधन, सम्यक् ज्ञानाधिकरण ये तीन अर्थ प्राप्त होते हैं। सम्यक् प्राप्ति विषय अर्थात् मोक्ष स्वरूप पुरुषार्थ अथवा मोक्षत्व। सम्यक् प्राप्ति साधन अर्थात् मोक्षरूपी परम

---

1. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितम्, ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस: इत्यादि–*शतपथब्राह्मण*, का.–14, अ. 5.
2. *स्वच्छन्दतन्त्रम्।*
3. पा.सू. 3/3/58.

पुरुषार्थ को प्राप्त करने का साधन आगमशास्त्र। सम्यक् ज्ञानाधिकरण से तात्पर्य आत्मज्ञान तथा उसका अधिकरण आत्मा, आत्मा ही आगम का पदार्थ के रूप में परिलक्षित है। आत्मज्ञान प्रदान करने के फलस्वरूप ही आगमशास्त्र को समाज का पोषक तथा अनुशासन के रूप में विद्वत् समाज के द्वारा अभिहित किया जाता है। तन्त्र पदार्थ का फल है आगम पदार्थ तथा आगम पदार्थ का साधन तन्त्र पदार्थ है, अत: इन दोनों में साध्य-साधन भाव से ही पूर्णता होती है। अत: इसको 'तन्त्रागम' संज्ञा भी दी गई है तथा शैव-तन्त्र को शैवागम एवं भैरव-तन्त्र को भैरवागम, मृगेन्द्र-तन्त्र को मृगेन्द्रागम तथा 'मालिनी-विजयवार्तिक'[4] और 'तन्त्रालोकविवेक'[5] में भगवान् शिव के पाँच मुखों के द्वारा दश शैवागमों, अष्टादश रौद्र-आगमों का एवं चतु:षष्टि भैरवागमों का आविर्भाव निरूपित है। वहाँ पर आगम शब्द के द्वारा तन्त्र का व्यवहार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है तथापि 'तन्त्र' की अपेक्षा 'आगम' शब्द कहीं अधिक व्यापक और दृष्टिगोचर होता है। *तत्त्ववैशारदी* में वाचस्पति मिश्र ने आगम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदयनि:श्रेयसोपाया: स आगम:।[6]

आगम के स्वरूप-सम्बन्ध में *वाराहीतन्त्र* में अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है—

सिद्धं सिद्धै: प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगम: शास्त्रमाप्तानाम्मात्रास्तत्त्वार्थवेदिन:।।
सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरुश्चरणमेव च।।
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विध:।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तिमागमं तं विदुर्बुधा:।।

ग्रन्थकार का तात्पर्य है कि आप्तपुरुषों[7] के द्वारा उपदिष्ट लोक एवं परलोक में हितकर प्रमाण सिद्ध शास्त्र आगम कहलाता है। इसमें सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सब मन्त्रों के साधन और पुरश्चरण षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) का साधन एवं ध्यानयोग निरूपित है। आचार्य शङ्कर ने कलियुग में आगमोक्त उपासना पद्धति को श्रेष्ठ माना है। *प्रपञ्चसार* में कहते हैं—

---

4. *मालिनीविजयवार्त्तिक:* पृ. 36-38.
5. *तन्त्रालोकविवेक:* (भाग-1), पृ. 36-41.
6. तत्त्ववैशारदी-1.7.
7. महर्षि पतञ्जलि ने चरक में आप्तों की परिभाषा इस प्रकार की है—
   रहतमोभ्यां निर्मुक्ता युक्ताज्ञानबलेन मे।
   येषां त्रैकाल्ममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।
   आप्ता:शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
   सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तथा।।

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः।।

मुख्यत: तीन प्रकार के आयाम हैं—(1) शैवागम, (2) शाक्त, (3) वैष्णव। **शैवागम—**शैवागम भी तीन प्रकार के माने गये हैं—(1) भेद प्रतिपादक, (2) भेदाभेदप्रतिपादक, (3) अभेदप्रतिपादक। इनको क्रमश: शिव, रुद्र और भैरव के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

तन्त्रालोक की जयरथकृत व्याख्या में श्रीकण्ठी नामक ग्रन्थ का कुछ भाग उदाहृत किया गया है जिसमें शैवागमों की नाम-निर्देशपूर्वक गणना की गई है।[8] भेदपरक या शिव-आगमों की संख्या दस है। भेदाभेदपरक या रुद्र आगमों की संख्या अट्ठारह है। अभेदपरक अथवा भैरव आगम आठ भागों में विभक्त हैं—(1) भैरव, (2) यामल, (3) मत, (4) मङ्गल, (5) चक्राष्टक, (6) बहुरूप, (7) वागीश, (8) शिवाष्टक।

विषय की दृष्टि से शैव-आगमों को चार भागों में विभाजित किया जाता है—(1) क्रियापाद, (2) चर्यापाद, (3) योगपाद, (4) ज्ञानपाद। क्रियापाद के अन्तर्गत पूजा के लिए आवश्यक विषयों के निर्माण करने का विवेचन किया गया है। मन्दिर तथा प्रतिमा आदि के निर्माण और प्रतिष्ठा से सम्बद्ध सभी विषयों पर विचार किया गया है।

चर्यापाद के अन्तर्गत नित्य-कर्म तथा वर्णाश्रम धर्म आदि विषयों से सम्बद्ध नियम आदि का वर्णन किया गया है। योगपाद में योग के आठ अङ्गों का वर्णन किया गया है। वस्तुत: शैवागम साहित्य बहुत ही विस्तृत है, किन्तु उनमें दार्शनिक अंश अपेक्षाकृत कम है। धार्मिक क्रिया-कलापों पर विशेषत: बल दिया गया है। सम्पूर्ण शैवागम साहित्य उपलब्ध भी नहीं है।

शैव सम्प्रदाय वेद और शैवागम में एकरूपता मानता है। अनेक विषय दोनों स्थलों पर समान रूप से प्राप्त होते हैं यथा—श्राद्ध, अग्निकार्य, अष्टक, संस्कार आदि।[9] जहाँ तक संस्कारों का प्रश्न है शैवागमों तथा धर्मसूत्र आदि वैदिक ग्रन्थों में किसी प्रकार का भेद ही नहीं दिखाई देता है—अपितु दोनों का ऐकमत्य ही

---

8. दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभो।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्।।
एतश्च श्रीकण्यामभिधानपूर्वं विस्तरत:। तद्यथा—*तन्त्रालोक* 1/18.
डॉ. कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने अपनी पुस्तक '*Abinavagupta — A Historical & Philosophical Study*', पृ. 75-80 में उपर्युक्त विषय को स्पष्ट किया है।
9. Nandinath, S.C. — *Sivagamas : Their Literature and Thology,* Journal of Karnataka University, 1960.

झलकता है।[10] उसके अतिरिक्त विष्णु, यम, इन्द्र आदि शिवेतर देवताओं का भी उल्लेख मिलता है परन्तु इतनी विशेषता अवश्य है कि इन सब देवताओं के होते हुए भी शिव का पारम्य किसी प्रकार बाधित नहीं होता है। किसी भी प्रकार का विरोध या भेद वेद तथा शैवागमों में नहीं है। शैवदर्शन के प्रमुख आचार्य श्री कण्ठ शिवाचार्य का यही मन्तव्य है।[11] उनके अनुसार दोनों के कर्त्ता शिव ही हैं। इसको प्रमाणित करने के लिए कुछ श्रुति एवं स्मृति वचनों का भी उद्धरण प्रदान करते हैं।

निष्कर्षत: आगम अथवा तन्त्र वेदों के समान ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूलस्रोत माने जाते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय का सौलभ्य ही इनका चरमोद्देश्य है। यह आगमशास्त्र सर्वसाधारण को उसकी अपनी क्षमता और सामर्थ्यतानुसार सुगमतया स्वल्पकाल में ही अभ्युदय और नि:श्रेयस का मार्ग प्रशस्त करता है। इस सम्बन्ध में महाराज मनु ने घोषणा की है—

प्रत्यक्षानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिता।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद: नेतर:।।

अतएव मानव को गुरुचरणों का आश्रयाच्छादित होने पर ही सिद्धि तथा वास्तविक आगम तन्त्र की क्रिया विधि स्पष्ट हो पाती है, अत: ऐहिक तथा आमुष्मिक लाभ हेतु मात्र गुरुचरण ही आश्रय हैं। इति शम्।

शोधच्छात्र,
धर्मागम विभाग,
का.हि.वि.वि., वाराणसी।

---

10. तुलना कर सकते हैं—
    (क) गर्भाधानपुसंवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनम् — *गौतमधर्मसूत्राणि*, 1/8/14.
    (ख) ब्राह्मणस्याधिकारार्थं चत्वारिंशमेव च।
    गर्भ: पुंसवनं चैव सीमन्तो जातकर्म च।
    नाम निष्क्रमणं चैव अन्नप्राशन चूडकम्।। — *स्वच्छन्दतन्त्रम्*, 10/386, 387.
    (ग) गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं तत:, जातकर्म तथा नामनिष्क्राम: प्राशनं शिखा। व्रतं वेदव्रतान्यन्ते गोक्षणंपाणियोगिता, पाकयज्ञा हविर्यज्ञा: सोमसंस्था परं तप:। रात्राणि वनवासित्त्वं वारिव्राजं गुणस्तत:।। — *मृगेन्द्रतन्त्र क्रिया.*, 8/159/161.
11. उभयोरेक एव शिव: कर्त्ता। ईशान: सर्वविद्यानां (महा. नं. 44) अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितम. (बृह. 6/5/11) इत्यादि।

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य में कुण्डलिनी शक्ति :एक अनुशीलन

डॉ. आदित्य आंगिरस

भारतीय संस्कृति के इतिहास को यदि देखें तो समस्त साहित्य में हमें दो धाराओं के दिग्दर्शन होते हैं जिन्हें हम विशुद्ध साहित्यिक धारा एवं लोकधारा के नाम से अभिहित कर सकते हैं। ये दोनों साहित्य की धाराएं न केवल एक दूसरे की पूरक रहीं हैं अपितु ये दोनों धाराएं एक दूसरे की संपोषक एवं संवर्धक के रूप में भी देखी जा सकती हैं। संस्कृत साहित्य के माध्यम से जहां कुण्डलिनी शक्ति की चर्चा हुई है वहीं दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के विशेषकर सन्त मत इससे प्रभावित हुऐ बिना न रह सके। फ़लत: सन्त साहित्य में कुण्डलिनी एवं षट्-चक्र निरूपण की छटा अपने आप में देखते बनती है। इस शोध पत्र के माध्यम से सन्त मत के विचारकों का इन्हीं संदर्भों में मत प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पूर्व पीठिका

भारतीय साहित्य के इतिहास में संवत् 1375 से ले कर संवत् 1700 तक के समय में जिस आन्दोलन के कारण समस्त भारतीय उप-महाद्वीप सम्यक् रूपेण प्रभावित हुआ है वह काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के नाम से जाना जाता हैं। इसका मूल कारण यह हो सकता है कि इस काल में भारतीय समाज के भक्त कवियों में जहां उस परम तत्त्व को सृष्टिकर्ता के रूप में जानने की इच्छा भारतीय समाज में उत्पन्न हुई वहीं दूसरी ओर उन्होंने सगुण एवं निर्गुण भक्ति के माध्यम से उस परम तत्त्व को जानने एवं साक्षात्कार करने का भी प्रयास किया। हिन्दी साहित्य के इतिहासवेत्ता इस बात को तो स्वीकार करने में कोई भी हिचक न महसूस करेंगें कि हिन्दी साहित्य में यह काल अकारण नहीं आया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जहां इसे पराजित अथवा हतदर्प जाति का भाग्य मान कर अपना अभिमत प्रकट करते हैं वहीं आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे प्राचीन भारतीय परम्परा से स्वभावत: उद्भूत होना माना है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्राचीनभारतीय परम्परा पर यदि हम दृष्टि-पात करें तो हमारे सामने वैदिक, उपनिषद्, महाभारत एवं रामायण कालीन विचारधारा का जो स्वरूप हमारे सामने आता है वह निश्चित रूप से आचार्य शुक्ल के मत को पोषित नहीं करता है। सन्त मत में कुण्डलिनी शक्ति के बारे में विचार करने से पहले यह आवश्यक बन जाता है कि हिन्दी साहित्य का यदि हम गंभीर रूप से अवगाहन करें तो तो हमारे सामने यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि भारतीय संस्कृति में कहीं न कही उस परम तत्त्व को जानने की इच्छा रही है जो मनुष्य को जीवन के श्रेष्ठतम रूप की ओर अग्रसर करने में हमेशा ही उद्यत रही है। समस्त पौराणिक साहित्य इसी तथ्य

का प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य उस परा शक्ति के दर्शन करने के लिये हमेशा ही लालायित रहा है जिसे आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका एवं कबीर के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

यद्यपि हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से शुरु होना माना जाता है तथापि यह बात स्पष्ट करना एक अनिवार्यता बन जाती है कि तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर जहां एक ओर मध्य एशियाई देशों की बोलियों का प्रभाव रहा वहीं दूसरी ओर हमें यह भी देखना चाहिये कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल अथवा वीरगाथा काल से पहले बौद्ध, जैन, सिद्ध एवं नाथ साहित्य परम्पराएं भी लोक जीवन पर हावी रहीं हैं जो विभिन्न भारतीय धर्म साधनाओं से प्रभावित थीं और जिनका संबंध एवं परिणिति हम *पातंजल योग* सूत्र में भी देख सकते हैं। विशेषकर सन्त मत इन्ही संबंधों में विचारणीय है। क्यों कि सन्तमत का आधार न केवल लोक परम्परा रही है बल्कि उसके पीछे संस्कृत साहित्य की शास्त्रीय परम्परा भी उतनी ही सशक्त रूप से विद्यमान रही है। अत: सन्त मत के कबीर आदि कवियों ने जो भी बात कुण्डलिनी शक्ति को ले कर की वह बहुधा लोकश्रुति एवं शास्त्रीय परम्परा पर आधारित थी। फ़लत: जहां बौद्ध परम्परा से उद्भूत सिद्ध नाथ परम्परा के सूत्र हमें पातंजल योग सूत्र में देखने को मिलते हैं वहीं दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है वहीं सिद्ध नाथ साहित्य में शिव संहिता, हठयोग प्रदीपिका,घेरण्ड संहिता, गोरक्ष सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का प्रभाव भी सन्त साहित्य में मिलता है।

कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप

वस्तुत: हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह वह काल रहा जब भारतीय मानस विभिन्न प्रकार के मत मतान्तरों से अटा हुआ हो कर भी विभिन्न मतों में विभाजित था। इसका स्पष्ट रूप से दर्शन हमें आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास *चारूचन्द्रलेख* में होता है विशेषकर जहां नाथ संप्रदाय की बात आती है। आचार्य द्विवेदी ने नाथ संप्रदाय की शाक्त साधना को हठयोग के नाम से अभिहित किया है।[1] यह तो निश्चित रूप से माना जा सकता है कि नाथ संप्रदाय की इस साधना पद्धति ने भारतीय जन मानस को अत्यधिक प्रभावित किया क्योंकि भैरवी साधना आदि इसी साधना का एक रूप हैं। इस दर्शन के अनुसार महाकुण्डलिनी शक्ति समष्टि जगत् में व्याप्त है एवं यह शक्ति जब व्यष्टि रूप में अभिव्यक्त होती है तो वह कुण्डलिनी शक्ति कहलाती है। हठयोग के अनुसार जीव जन्म से पूर्व कुण्डलिनी शक्ति एवं प्राण शक्ति को लेकर ही मातृ-कुक्षि में प्रवेश करता है एवं जन्म पश्चात् प्रत्येक जीव की तीन अवस्थाएं होती है क्रमश: जागृत स्वप्न, एवं सुषुप्ति। इस मत के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति व्यष्टि (व्यक्ति अथवा जीव) के मूलाधारचक्र में निश्चेष्ट अवस्था में ही रहती है। यह मूलाधार चक्र प्रत्येक मनुष्य के पायु एवं उपस्थ स्थान के मध्य अवस्थित है। यहां यह स्पष्ट करना एक आवश्यकता बन जाती है कि प्रत्येक जीव के इस स्थान पर जीव-शिव की अवस्थिति है एवं कुण्डलिनी शक्ति इस जीव-शिव पर साढे तीन वलय में लिपटी हुई है। इसी मूलाधार चक्र को कई व्यक्ति अग्निचक्र भी मानते हैं और कई अग्निचक्र की अवस्थिति मूलाधारचक्र के ऊपर मानते हैं। इसके ऊपर

स्वाधिष्ठान चक्र की अवस्थिति है एवं इसके पश्चात क्रमश: मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र एवं आज्ञा चक्र हैं जिसके पश्चात् अन्त में जीव के मस्तक में शून्य चक्र की अवस्थिति है। शून्य चक्र को कई साधक सहस्रार भी मानते हैं। इसी शून्य चक्र अथवा सहस्रार में परम शिव की उपस्थिति भी मानी गई है। अधिकांश नाथ पंथी इसे (शून्य चक्र) गगन मंडल एवं कैलाश मानते हैं।[2] साधक की साधना की चरम परिणति जीव शिव पर वलयित कुण्डलिनी शक्ति को परम शिव तक लेकर जाना ही माना गया है।

सन्त मत में कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप

सन्त मत के सिद्धान्तों पर इन्हीं सन्दर्भों में यदि हम दृष्टिपात करें तो हमारे सामने एक अन्य चक्र का वर्णन आता है एवं सन्त उस चक्र को "सुरति कमल"[3] के नाम से अभिहित करते हैं। सन्त मत के साधकों का मानना है कि शून्य चक्र अथवा सहस्रार तक पहुंचे योगी का चित्त व्युत्थान काल में अर्थात् समाधि टूटने के बाद फ़िर वासना का शिकार हो जाता है पर सुरति कमल में विचरण करने वाले योगी का चित्त ऐसे खतरे से निश्चिन्त रहता है।[4] यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति साधना को हठ योग से भिन्न माना गया है परन्तु वे कहीं न कहीं हठ योग के माध्यम से कुण्डलिनी विज्ञान की चर्चा अवश्य करते हैं।

यह बात तो निश्चित है कि विभिन्न साधना पद्धतियां (सिद्ध साधना, नाथ साधना आदि पद्धतियां) मनुष्य शरीर में बहत्तर सहस्र नाडियां मानती हैं जिसमें कुछ नाडियां विशेष हैं। सभी साधना पद्धतियों में तीन विशेष नाडियों का विशेष उल्लेख अवश्य मिलता है जिन्हें हठयोगियों ने इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाडियों के नाम से अभिहित किया है। मनुष्य शरीर के बांई ओर इडा नाडी एवं दांई ओर पिंगला नाडी अवस्थित है एवं इन दोनों के मध्य सुषुम्ना नाडी अवस्थित है जो कि कुण्डलिनी शक्ति का गम्य मार्ग है। बौद्ध विचारकों के अनुसार मनुष्य देह में सुमेरू की कल्पना की गई है उनका अभिप्राय संभवत: यही सुषुम्ना नाडी ही है। बौद्ध विचारकों के अनुसार दक्षिण से ठण्डी एवं उत्तर से गर्म हवाएं आती है जो सुमेरु पर्वत पर प्रहार करती है एवं वायु का यह प्रहार साधक की साधना में विघ्न उपस्थित करते हैं। सुषुम्ना नाडी , जैसा कि माना जाता है, के भीतर कई नाडियां विद्यमान है, सुषुम्ना नाडी के भी आगे भेद करते हुऐ सुषुम्ना के भीतर वज्रा नाडी, उसमें चित्रणी नाडी, उसके भीतर ब्रह्मनाडी विद्यमान है। अत: कहना न होगा कि नाडियों की संख्या तीन कि अपेक्षा पांच हैं। इसीलिये शाक्त साधना में पंचस्रोत अथवा पंच धारायें कहने की प्रथा विद्यमान है।[5] सिद्ध एवं नाथ साहित्य इसे "ललना-रसना-अवधूती" कहा है।[6] यहां अवधूती का अर्थ सुषुम्ना नाडी से ही है जिसमें शांभवी शक्ति है।[7] कबीर आदि के लिये इडा "गंगा" पिंगला "यमुना" एवं सुषुम्ना ही "सरस्वती" है एवं ब्रह्मरंध्र में ही इन तीनों का संगम होता है और यही त्रिवेणी का प्रयाग है।[8] अत: कबीर आदि संत कवि इसी त्रिवेणी में स्नान करने का विधान करते हैं। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक बनता जाता है कि समस्त सन्त काव्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है उनका लाक्षिणक अर्थ इन्हीं संदर्भों में प्रकट होता है।

साधक नाना प्रकार की साधनाएं करता है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुख रहती है। साधारण मनुष्य में यह क्रिया नहीं होती क्योंकि वह उग्र तपस्या नहीं करता एवं वह आजीवन काम क्रोध, लोभ मोह आदि चित्त के विकारों से चलित व्यवहार करता है। ठीक इसके विपरीत, साधक जब अपनी साधना के परिणामस्वरूप अपनी कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी दिशा देता है अथवा जब साधना की अवस्था में कुण्डलिनी ऊपर की ओर अग्रसर होती है तो उस समय उसमें एक स्फ़ोट होता है जिसे शाक्त साधना में नाद कहा गया है। नाद से प्रकाश होता है एवं प्रकाश का ही व्यक्त रूप महा बिन्दु है। यही प्रकाश क्रमश: तीन प्रकार का होता है जिसे इच्छा ज्ञान एवं क्रिया कहा जाता है। परिभाषिक तौर पर सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि यहीं हैं। सन्त कवि जब भी नाद एवं बिन्दु की बात करते हैं तो उनके अनुसार यह नाद एवं बिन्दु अखिल जगत् में व्याप्त है और उनका अभिप्राय इसी नाद एवं बिदु से है जिसे वे अनहद नाद मानते हैं। कुमार गंधर्व के कबीर वाणी गायन से यही तथ्य हमारे सामने आता है। सन्त कवि इस बात को मानते हैं कि जब साधक के प्राण स्थिर होकर कुण्डलिनी शक्ति शून्य पथ पर अग्रसर होती है तो साधक अनहद नाद अथवा ध्वनि सुनना आरंभ कर देता है जो क्रमश: समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन, भेरी गर्जन, मर्दल, शंख, घंटा नाद, किंकणी नाद, वंशी नाद भ्रमर एवं वीणा नाद में परिवर्तित होती है।

शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ *हठयोग प्रदीपिका 4.6॥*

साधक की इस अवस्था में यह स्थिति होती है वह इन ध्वनियों की ओर ध्यान नहीं देता और वह चित्त के नाद में रम जाता है, वह दुनिया के किसी और विषय की परवाह नहीं करता।[9] परन्तु जैसे जैसे साधक को ये सभी शब्द सुनाई देने बंद हो जाते हैं वैसे वैसे साधक को अपने आत्म स्वरूप का दर्शन आरंभ हो जाता है। यहां यह स्पष्ट करना एक आवश्यकता बन जाती है कि साधक इन विभिन्न प्रकार के नादों को औपाधिक मानता है एवं वह इससे अपना कोई भी सरोकार नहीं रखता। वैयाकरण में इसी को "स्फ़ोट" कहा है।

सन्त साहित्य को यदि ध्यान से देखे तो इस साहित्य में विशेषकर तीन शब्दों का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ है जिसमें सुरति, निरति एवं पछिमी द्वार प्रमुख है उदाहरण के तौर पर कबीर का यह दोहा यहां द्रष्टव्य है

सुरति समानी निरति में अजपा माहै जाप।
लेख समाना अलेख में यूं आपा माहै आप।।

हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने सुरति एवं निरति शब्दों को लेकर अपने अपने मतानुसार अर्थ अभिव्यक्त किया है उनमें से कतिपय कुछ द्रष्टव्य है—

सुरति शब्द का अर्थ

1. स्मृति
2. स्वर, आशा
3. सुष्ठु रति
4. श्रुति
5. स्वरति
6. प्रेम
7. अन्तर्मुखी वृत्ति
8. तान
9. योगी की असाधारण यौगिक दृष्टि क्षमता जिसके द्वारा वह अदृश्य जगत् की अनुभूति प्राप्त करने में सक्षम होता है।

निरति शब्द का अर्थ

1. नृत्य
2. निष्ठुर रति अथवा प्रेम
3. वैराग्य
4. बहिर्मुखी वृत्ति
5. लय
6. सुरति से भिन्न निर्विकल्पक साधना [10]

इसके अतिरिक्त बाबा राम लाल दास, कबीर, गरीब दास, चरनदास, दरिया दास आदि जिस पश्चिमी द्वार की बात करते हैं वह वस्तुत: प्रत्यगात्मा है जिस का समस्त औपनिषिदक साहित्य वर्णन करता है।

मूल मन्त्र करि बंध बिचारी। षट चक्रहि नव सोधहि नारी॥
सोचि के मेरु दण्ड ठहराना । सहज मिलावै प्रान अपाना ॥
बंक नाल गहै मन मूला। बिहंस अष्ट कमल दल फ़ूला॥
पच्छिम दौसा लानि विचारि। संत कुन्जी सन लेहू उधारी॥

यहां यह स्पष्ट करने की आवश्यकता बन जाती है कि कबीर आदि सन्त कवि जिस पश्चिमी द्वार की बात करते हैं वह वेदान्त में प्रत्यगात्मा के रूप में जानी जाती है और कबीर आदि सन्त कवियों की कविता के माध्यम से उनका वेदान्त पक्ष ही हमारे सामने आता है।

अत: यह तो बात निश्चित है कि कबीर आदि ने सहज समाधि का ही विधान किया है वह नाथ सिद्ध पन्थ की समाधि से भिन्न है। कबीरदास की उलटबांसियों के माध्यम से भी यही अभिप्राय प्रकट होता है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक बन जाता है कि कबीर की उलटबांसियों में खेचरी मुद्रा[11] का जो विधान किया गया है वह अपने आप में विशिष्ट भी है एवं साथ ही साथ वह हठयोग से भी प्रभावित है। इसमें योगी जीभ को उलट कर अपने कपाल अथवा तालु-मूल में प्रविष्ट कराता है एवं उसकी दृष्टि भ्रू-मध्य भाग में निरुद्ध हो जाती है। योगी की यह अवस्था योगी के अनथक प्रयास का परिणाम ही है जिसके कारण उस पर कोई भी विष अथवा व्याधि असर नहीं कर सकती है। इसी मुद्रा का विशेष रूप व्योम चक्र भी है। यहां यह कहना एक आवश्यकता बन जाती है कि ब्रह्मरंध्र के सहस्राकार पद्म में योनि नामक एक त्रिकोण आकार का शक्ति केन्द्र अवस्थित रहता है एवं वह चन्द्रमा का स्थान माना जाता है। यह भी माना जाता है कि इस स्थान में, जहां चन्द्रमा विराजित है, उस चन्द्रमा से ऐसी स्थिति में अमृत अथवा सोम क्षरण लगातार होता रहता है। योगी की देह पर जो विष अथवा किसी भी व्याधि का प्रभाव नहीं होता वह इसी कारण ही संभव है और इसी कारण योगी अमर हो जाता है। हठयोग में योगी अथवा साधक को गोमांस भक्षक बताया गया है और वह अमरवारुणी का पान करता है। यहां गो का लाक्षणिक अर्थ वाणी एवं अमर वारुणी वह अमृत है[12] जो साधक का पाप नाश करने वाला है। वस्तुत: हठयोग के अनुसार सृष्टिमय बीज ही केवल बीज है, एक ही मुद्रा है जिसे वे खेचरी के नाम से वर्णित करते हैं, एक ही निरालंब देव है, एक मनोन्मनी अवस्था है[14] जिसे कबीर उन्मनि रहनी कहते हैं।[15] वास्तव में यदि देखा जाये तो राजयोग, समाधि, उन्मनि, मनोन्मनि, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, सहजा, तुर्या आदि सभी शब्द एक ही शब्द के वाचक हैं। [16] सन्त मत जब भी उन्मनि अवस्था की बात करते हैं एवं शब्द प्रमाण के माध्यम से जो चित्र उन्मनि अवस्था का हमारे सामने प्रस्तुत होता है उसका स्वरूप कहीं न कहीं *हठयोग प्रदीपिका* नामक ग्रन्थ के चतुर्थोपदेश की अनुक्रमणिका के समान ही मिलता है। वस्तुत: यह सारा का सारा प्राण एवं मन के स्थिर हो जाने पर संभव होता है। ऐसी स्थिति में, यह तो निश्चित है, कि मन में एक अभूतपूर्व उल्लास एवं आनन्द आता है।[17] ऐसी स्थिति में योगी अथवा साधक आत्मा को शून्य में करके और शून्य को आत्मा में करके निश्चिन्त हो जाता है। यही ब्राह्मी स्थिति है जहां योगी के बाहर भी शून्य होता है एवं भीतर भी शून्य ही होता लगता है। परन्तु वास्तविक स्थिति ठीक इसके विपरीत होती है। वह बाहर से भी पूर्ण होता है भीतर से भी पूर्ण होता है। इन्ही संदर्भों में कबीर का वह पद सामने आता है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है
बाहर भीतर पानी।
फ़ूटा कुम्भ जल जल हि समाना
यह तथ कहो ग्यानी।
आदे गगना अन्तै गगना

मध्ये गगना भाई।
कहे कबीर करम किस लागै
झूठी एक उपाई॥[18]

कबीर का यह भावानुवाद हमें *हठयोग प्रदीपिका* नामक ग्रन्थ में द्रष्टव्य होता है जो संभवत: कबीर के जन्म से लगभ 200 अथवा 300 साल पहले लिखा जा चुका था।

अन्त:शून्यो बहि: शून्य:
शून्यकुंभ इवाम्बरे।
अन्त :पूर्णो बहि :पूर्णो
पूर्ण :कुम्भ इवार्णवे।।[19]

गुरु की महत्ता

यह तो एक प्रकार से निश्चित है कि सन्त मत के सभी कवि सद्गुरु के महत्त्व को न केवल स्वीकार करते हैं बल्कि वे सद्गुरु को गोविन्द से अधिक महत्व भी देते है। इसका संभव कारण एक यह भी है कि सद्गुरु ही इस जीवन में वह प्रकाशक तत्त्व है जिसने सन्तों को हठयोग के माध्यम से शब्द ब्रह्म तक पहुंचाने का एक मात्र श्रेष्ठतम कार्य किया है। कबीर के अपने शब्दों में इसी तथ्य को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

शब्द गुरु का शब्द है, काया का गुरु काय।
भक्ति करै नित शब्द की, सत्गुरु यौं समुझाय॥

उनके अनुसार शब्द ब्रह्म की नित्यता समझाने का श्रेय केवल एवं केवल गुरु को ही जाता है जिसके परिणामस्वरूप वे शब्द ब्रह्म में निष्णात हो सके हैं। इन्हीं संदर्भों में *शिवसंहिता* के चतुर्थ पटल में वर्णित उन श्लोकों का वर्णन करना भी यहाँ अभिप्रेत होगा जो गुरु की महत्ता को द्योतित करते हैं—

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥[20]

अपि च

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा।
अन्यथा फ़लहीना स्यान्निवीर्याप्यतिदु:खदा॥
गुरु सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्या :फ़लमवाप्नुयु:॥[21]

इन्हीं संदर्भों मे *शिव संहिता* गुरु के महत्त्व को वर्णित करते हुए यहां तक कहती है कि गुरु ही वास्तविक माता, पिता, देव है एवं उसी की सेवा हमें श्रेष्ठ रूप से करनी चाहिये क्योंकि गुरु के प्रसन्न होने पर ही आत्मा सर्व प्रकार के शुभ को प्राप्त कर लेती है। अत: कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्तों ने गुरु को गोविन्द से जो अधिक महत्त्व दिया है उसके पीछे विद्या में सिद्धि एक मात्र कारण है। सन्तमार्गी कवि संभवत: इस बात को भी जानते थे कि जिस मार्ग पर वे चल रहें हैं वह गुरुकृपा के माध्यम से ही प्राप्तव्य था अन्यथा नहीं। इसीलिये वे छद्म-गुरु एवं सद्गुरु के बीच भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

जो गुरु ते भ्रम न मिटे, भ्रान्ति न जिसका जाय।
सो गुरु झूठा जानिये, त्याग तदे रन लाय॥

निष्कर्ष

सन्त मत के प्राय: सभी कवियों किसी न किसी रूप में अपने से पूर्व प्रचलित हठयोग साधना पद्धति से प्रभावित भी थे जिसका अपने काव्य में उन्होंने अपने शब्दों में किया है। यही सन्त मत की विशेषता है। इसी लिये वे प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभूत विषय का परिणाम बताते हुए कहते हैं—

चाह मिटी, चिंता मिटी मनवा बेपरवाह।
जिसको कुछ नहीं चाहिए वह शहनशाह॥

उद्धरण

1. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : *कबीर,* पृ.44
2. वही
3. वही, पृ. 45
4. वही, *विचार प्रवाह,* पृ 154-155
5. *हठयोग,* 3-52
6. *बौद्ध गा. दो.* , पृ 9
7. सुषुम्ना शांभवी शक्ति शेषास्सर्वत्र निरर्थका:। *हठयोग,* 5-18
8. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर : *हठयोग की साधना,* पृ.45
9. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर : *हठयोग की साधना,* पृ.47
10. चौहान, प्रताप सिंह : *सन्त मत में साधना का स्वरूप,* पृ 40
11. "नासनं सिद्ध-सदृशं न कुम्भ: केवलोपम:। न खेचरी समा मुद्रा न नादसदृशो लय:॥"

— *हठयोग प्रदीपिका,* 1-45/3.53-54

12. *हठयोग,* 3-46-8

13. *बीजक*, शब्द 82
14. *हठयोग,* 1.73
15. "अवधू, मेरा मन मतवारा उन्मनि चडया गगन रस पीवै त्रिभुवन् भया उजियारा।" — *कबीर ग्रन्थावलि,* पद 72
16. *हठयोग,* 4.3-4
17. *हठयोग,* 4.29-30
18. *कबीर ग्रन्थावलि,* पद 44
19. *हठयोग,* 5.55
20. *शिवसंहिता,* 4.22
21. *शिवसंहिता,* 3.11

हिन्दी प्रवक्ता
वी वी बी आई एस एण्ड आई एस
(पंजाब विश्वविद्यालय,चण्डीगढ.)
साधु आश्रम,ऊना रोड
होशियारपुर (पंजाब)।
दूरभाष : 9417188202
Email : angiras0001@gmail.com

योग शिक्षा एवं पतञ्जलि–अष्टाङ्ग योग :मूल्यनिरूपण[1]

डॉ सुशिम दुबे

मुख्य बिन्दु: 'शिक्षा' एवं 'मूल्य' का अर्थ, वर्तमान शिक्षा का परिदृश्य, मूल्योन्मुखी शिक्षा—राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय संस्थायें, मूल्याधारित या मूल्योन्मुखी शिक्षा के घटक, योग तथा मूल्योन्मुखी शिक्षा, मूल्योन्मुखी शिक्षा के अन्तर्गत योग के आयाम, महर्षि पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग का मूल्योन्मुखी शिक्षा के रूप में निरूपण

किसी भी कार्य को करने के लिये उसका ज्ञान (Knowledge) आवश्यक है, ज्ञान के पश्चात् उसके किये जाने के तरीके (Methodology) का बोध होना भी अनिवार्य है। इसके पश्चात् उस कृत्य के सुपरिणाम तथा दुष्परिणाम (Results – positive or negative) की समझ व्यक्ति को उस कृत्य की ओर प्रेरित करने या न करने में अहम भूमिका निभाती है। अन्ततोगत्वा उस कर्म या कृत्य के दूरगामी परिणाम तथा प्रभावों (consequence/future effects) को मिलाकर देखने पर उस कृत्य कर्म का समग्र परिदृश्यात्मक बोध निर्मित होता है। इन्हीं उपर्युक्त निर्णयों एवं उद्देश्यों का ज्ञान तथा विधिवत् बोध कराने की जो प्रणाली या विधि है उसे ही सरल अर्थों में 'शिक्षा' से अभिहित किया जाता है।

'शिक्षा' एवं 'मूल्य'का अर्थ (Etymology of 'Education'& Value)

शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की **'शिक्ष्'** धातु से हुयी है, जिससे अभिप्राय है, सीखना, अर्जित करना, ग्रहण करना, ज्ञानात्मक रूप से संवृद्ध होना।

अंग्रेजी में शिक्षा के लिये 'Education' शब्द है, जो कि 'Educere' (Latin) से बना हुआ है, जिससे तात्पर्य होता है—'to lead', 'to draw', 'to acquire.'। अर्थात् आगे बढ़ना, निकालना, खींचना (ग्रहण), अर्जित करना। तात्पर्य है कि जो बातें व्यक्तित्व तथा चरित्र के निर्माण में सारभूत हैं उनके अर्जित करना (acquire), उनकी प्राप्ति की ओर अग्रसर (lead) होना।

1. आलेख में प्रस्तुत विचार लेखक के स्वयं के हैं। लेखक उन विभिन्न स्रोतों का आभार व्यक्त करता है, जहाँ से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया गया है।

मूल्य के लिये अग्रेंजी में 'Value' है। 'Value' की निष्पत्ति लैटिन 'Velere' से हुयी है जिसका तात्पर्य 'to be Worthy' है। एवं इसका अर्थ है—सार, महत्व। यह सार या महत्व किसी कर्म के परिणाम, प्रभाव या गुण के सन्दर्भ में मापित किया जाता है। यही उसकी Value या मूल्य होता है।

मूल्याधारित शिक्षा की आवश्यकता तथा अर्थ (V.O.E. – Necessity & Meaning)

यदि शिक्षा का अर्थ निकालना, ग्रहण करना या अर्जित करना है, तो मूल्याधारित शिक्षा का अर्थ होगा जो मूल्य अर्थात् सार या महत्व है, उसको निकालना या अर्जित करना। इसी सन्दर्भ में उपनिषत्[2] में कहा गया है—

असतो मा सद्गमय,	Lead us from untruth to truth,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,	from darkness to light, and
मृत्योर्मामृतं गमय।	from mortality to immortality.

अर्थात् हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमृतत्त्व की ओर ले चलो। विवेकानन्द ने भी शिक्षा की यही परिभाषा दी है कि –"Education is the manifestation of the perfection already in man"[3].

शिक्षा में व्यक्ति, समाज तथा राज्य के अनिवार्य तत्त्वों को शामिल किये जाने की आवश्यकता रहती है। तब ही वह समग्र तथा पूर्ण शिक्षा हो पाती है। वास्तव में शिक्षा व्यक्तित्व तथा चरित्र निर्माण का सर्वाधिक सशक्त साधन है।

वर्तमान शिक्षा का परिदृश्य (Education in Modern Scenario)

वर्तमान में शिक्षा का स्वरूप अत्याधुनिक है। विविध विषयों के विशिष्ट अध्ययन की परिपाटी प्रचलन में है। ये विविध विषय प्रायः विज्ञान, चिकित्सा, तकनीकि आदि के होते हैं। इसके अतिरिक्त कला, कम्प्यूटरविज्ञान, व्यवसाय तथा प्रबन्धन परक विषयों का अध्ययन महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के माध्यम से होता है। यद्यपि ये विषय समाज एवं राष्ट्र के लिये अत्यावश्यक हैं तथा समाज एवं राष्ट्र के विकास में इनकी भूमिका अहम है। किन्तु इतने विविध विषय तथा नैपुण्यता परक ज्ञान के पश्चात् भी जिस चीज की कमी व्यक्ति तथा समाज में चिन्तकों के द्वारा अनुभूत की जा रही है वह है—

मानवीय मूल्य (Humanistic Values)

सद्भाव, प्रेम, सौहार्द्र, अहिंसा, निःस्वार्थपरकता आदि में कमी,

---

2. *वृहदारण्यक उपनिषद्* 1.3.28
3. *The Complete Works of Swami Vivekananda* by Swami Vivekananda, Volume 4, Writings: Prose

राष्ट्रीय मूल्य (National Value)

देशभक्ति की भावना, राष्ट्रीय एकता की भावना, राष्ट्रीय अवदानों में गरिमान्विता का भाव, त्याग आदि के प्रति दृढ़ता में कमी, तथा

अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों (International Value)

मानवाधिकार, शान्ति, इको सिस्टम आदि के प्रति कमी महसूस की जा रही है।

इन मूल्यों के प्रति उदासीनता के फलस्वरूप सामाजिक विघटन, स्वार्थपरकता, हिंसा, घृणा, राष्ट्र के प्रति असम्मान या उदासीनता का भावजनित होता है। सांस्कृतिक मूल्यों में अनास्था के परिणाम स्वरूप संस्कृति का क्षय, जनरेशन गेप, ओल्ड एज़ पीपुल्स प्रोब्लम्स, परिवार का विघटन, विवाह सम्बन्धों का टूटना, मानव को मशीन समझना जिससे उपभोक्तावाद आदि की विषाद जनक स्थित उत्पन्न होती है। इन्हीं के अत्यधिक बिगड़ने से सामाजिक क्लेश, व्यापक अशान्ति, जीवन में/से असंतुष्टि, असुरक्षा, अपराध, तथा आतंकवाद, जैसी विभीषिकाएँ जन्म लेती है। इन विभीषिकायों के कारण समाजिक, राष्ट्रीय असन्तुलन की स्थित उत्पन्न होती है।

मूल्योन्मुखी शिक्षा – परिभाषा (V.O.E. – Definition)

वैयक्तिक एवं मानवीयमूल्य, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को शिक्षा में सम्मिलित करने की नितान्त आवश्यकता होती है। इसी लिये आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के केवल शिक्षा न कहकर मूल्योन्मुखी शिक्षा कहा जाता है। इस प्रकार मूल्योन्मुखी शिक्षा की सामान्य परिभाषा हम इस प्रकार कह सकते हैं कि वह

"मूल्योन्मुखी शिक्षा वह है जो कि व्यक्ति के मनोदैहिक पक्षों के समग्र विकास के साथ, उसमें सामाजिक मूल्यों के प्रति बोध जगा सके, राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की गरिमामय अनुभूति के साथ अन्तरराष्ट्रीय भावों के अनुरूप व्यक्ति का विकास करने में सहायक हो, जिससे वह स्वयं के प्रति, परिवार के प्रति तथा समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य–कर्मों को दक्षता पूर्वक निभा सके।"

इस प्रकार मूल्योन्मुखी शिक्षा में व्यक्ति में निहित सम्भावनाओं के सम्पूर्ण विकास के साथ समाजिक एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं के पूर्णीकरण का आदर्श समाहित किया गया है।

मूल्योन्मुखी शिक्षा – राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय संस्थायें (V.O.E. – National & International Agencies)

हमारे देश मे शिक्षा के उपर्युक्त उद्देश्यों के अनुरूप सरकार के द्वारा *National Policy on Education* (1992) के तहत कहा गया है कि –

" …value education is an integral part of school curriculum. It highlighted the values drawn from national goals, universal perception, ethical considerations and

character building. It stressed the role of education in combating obscurantism, religious fanaticism, exploitation and injustice as well as the inculcation of value."

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ(U.N.O.) की संस्था यूनेस्को (UNESCO) के द्वारा भी शिक्षा के मूल्योन्मुखी होने कहा गया है। इसमें शिक्षा के कार्यक्रमों में शान्ति (Peace), मानवाधिकार (Human Rights) तथा मानववादी दृष्टिकोणों (Humanistic Outlook) को समर्थित किया गया है।

मूल्याधारित या मूल्योन्मुखी शिक्षा के घटक (The Components of Value Oriented Education)

मूल्योन्मुखी शिक्षा के घटक से अभिप्राय है उन तत्त्वों से है जिनसे मूल्योन्मुखी शिक्षा घटित होती है, अर्थात् बनती है। निश्चित रूप से उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम कह सकते हैं कि मूल्योन्मुखी शिक्षा के घटकों में अधोलिखित मन्तव्य समाहित होंगे –

क्र.	**मूल्योन्मुखी शिक्षा के घटक**	**Name of the factors of V.O.E.**
1.	प्राचीन विरासत में संरक्षित तत्त्वों के आधार पर मानव निर्माण	Building of Human beings with the strength and power based upon ancient heritage)
2.	दक्षता एवं समझ बढ़ाने वाले तत्त्व	Promotion understanding and Efficiency
3.	व्यक्तित्व एवं चरित्र निर्माण के घटक	Personality development and Character building
4.	राष्ट्रीय एकता, अखण्डता के घटक	National unity and Integration
5.	विकास तथा पुनर्निर्माण की क्षमता परक घटक	Development and Regeneration
6.	प्रेम तथा सौहार्द्र के तत्त्व	Affinity and fraternity
7.	शान्ति, सामञ्जस्य तथा समरसता परक घटक	Peace, Harmony and Coherence
8.	त्याग एवं समर्पण के घटक	Devotion and Dedication)

योग तथा मूल्योन्मुखी शिक्षा

विश्व संस्कृति में अपना योगदान देने वाला 'योग' प्राचीन भारतीय ऋषियों की महान खोज एवं देन है। ऋषियों–मुनियों की इस विलक्षण खोज योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्राचीन भारतीय वैदिक संहिताओं, ग्रन्थों, मृत्तिका मुद्राओं एवं प्रस्तर उत्कीर्णनों में मिलती है।

योग वर्तमान काल में सार्वभौमिक, सार्वजनिक एवं सुपरीक्षित स्वास्थ्य रक्षण एवं संवर्धन की पद्धति के रूप में विश्वव्यापी हो रहा है। वास्तव में योग की पद्धति को आज वैज्ञानिक आधार एवं स्वीकृति मिल रही है। इस रूप में योग की पद्धति सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक सिद्ध होती है। यौगिक अभ्यासों एवं उपचारों का लाभ आज सभी लोग ले पा रहे हैं। इस रूप में योग किसी भी देश, जाति व धर्म से सम्बन्धित या नास्तिक–आस्तिक सभी के लिये उपयोगी है।

इसी प्रकार सार्वभौमिक सत्यों एवं सनातन जीवन मूल्यों पर आधारित योग के सत्य अहिंसा, आदि यम तथा संतोष, स्वाध्याय आदि नियम का कोई भी व्यक्ति आचरण कर सकता है, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक हो, गोरा हो या काला। आसन एवं शुद्धि क्रियाओं के अभ्यास से सभी शरीर को स्वस्थ व निरोगी बना सकते हैं।

योगदर्शन, सभी को, उनके साधन से योगाभ्यास करने की स्वतन्त्रता देता है। सभी धर्म, सभी वर्ग के लोग यथेच्छित चिह्न या पदार्थ पर ध्यान लगाते हैं। योग के आधारभूत ग्रन्थ योगसूत्रमें आता है – 'यथाभिमत ध्यानाद्वा'[4] अर्थात् जो पदार्थ अच्छा लगे उसी पर ध्यान लगाने से चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। ध्यान से मानसिक तनाव का कम होना, उच्च रक्तचाप का नीचे आना, श्वास रोग का ठीक होना, ध्यान लगाने से छात्रों के अध्ययन में प्रगति करना अनगिनत व्याधियों में रोगियों का प्राणायाम एवं ध्यान के अभ्यास से अन्यों की अपेक्षा शीघ्र ठीक होना, नशे आदि व्यसनों से छुटकारा पाना आदि तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में भारत ही नहीं विदेशों में भी योग को विद्यायलयीन शिक्षा के अन्तर्गत लाया जा रहा है।

विगत दशकों से शिक्षा के स्तर पर अनेक प्रयोग हुये हैं शिक्षा में प्रयोगात्मकता, व्यवहारिकता तथा उपयोगात्मकता को लाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। पूर्व में जहाँ शिक्षा में नैतिक शिक्षा तथा शरीर शिक्षण जैसे विषय रहे हैं जो कि विद्यार्थी के चरित्र निर्माण के साथ स्वस्थ्य शरीर के विकास में भी सहायक होते थे। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में नैतिक मूल्यों में ह्रास के साथ शारीरिक शिक्षण के प्रति भी रूझान में व्यापक कमी आयी है। ऐसे में एक ऐसे सशक्त माध्यम की आवश्यकता अनुभूत की गयी जो कि नैतिक मूल्यों के साथ शारीरिक मूल्य

4. *योगसूत्र,* I.39

एवं आध्यात्मिक मूल्यों की भी अपरिहार्य शिक्षा दे सके। वास्तव में योग के प्रति वर्तमान शिक्षाविदों में बढ़ते रूझान का कारण यही है। किन्तु योग की शिक्षा नवीन नहीं है। प्राचीन परम्परा में सूर्य नमस्कार के साथ गुरुकुल में अध्ययन की परम्परा रही है। आज इन्हीं प्राचीन सन्दर्भों को आधुनिक परिवेश में पुनर्ज्जीवित करते हुये योग अधिकाधिक विद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रमों का अनिवार्य अंग होता जा रहा है।

योग शिक्षा एवं पतञ्जलि–अष्टाङ्ग योग :मूल्य निरूपण (Yoga Education and Patanjali Yoga : Interpretation of Value)

योग सांगोपाग सर्वांगीण विकास का दूसरा नाम है। वास्तव में जो भी सारयुक्त, श्रेष्ठ, एवं श्रेयस् है उसी से जुड़ना योग है। इसे ही आत्म तत्त्व आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। इस रूप में योग आध्यात्मिक पूर्णीकरण तक का लक्ष्य रखता है। इसके अतिरिक्त आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास के रूप में योग में शारीरिक अभ्यास एवं स्वास्थ्य के मूल्य समाहित हैं। यम एवं नियमों के रूप में इसमें सामाजिक–राष्ट्रिय–अन्तरराष्ट्रिय मूल्य समाहित हैं। प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान न केवल मानसिक दृढ़ता उत्पन्न करते हैं वरन् जागरूकता, संकेन्द्रण की क्षमता, दक्षता, भावनात्मकता को भी प्रबल बनाते हैं। इस प्रकार योग में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राष्ट्रिय एवं अन्तरराष्ट्रीय सभी मूल्यों के घटक किसी न किसी मात्रा में सम्मिलित होते हैं।

राष्ट्रिय शिक्षानीति 2016 के अन्तर्गत प्रस्तावना के अन्तर्गत योगशास्त्र का उल्लेख विश्व के पुरातन विश्वविद्यालय नालन्दा के अन्तर्गत मुख्य विषयों में आया है। प्रस्तावित नीति के अन्तर्गत योग[5] को राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2016 के अन्तर्गत माना गया है कि शिक्षा से बच्चे के समग्र विकास (भौतिक, सामाजिक–संज्ञानात्मक के साथ–साथ भावनात्मक) से है और इसलिए, सभी पहलुओं को केवल अकादमिक उपलब्धि के बजाय मूल्यांकन की आवश्यकता है।[6] ऋषि पतञ्जलि द्वारा योगसूत्र में अष्टाङ्ग योग की चर्चा की इसी के अर्थ निरूपण का अग्रिम सारिणी में प्रयास किया गया है।

---

5. The following policy initiatives will be taken:1.Physical education, yoga, games and sports, NCC, NSS, art education,Bal Sansad, covering local art, craft, literature and skills, and other coscholastic activities will be made an integral part of the curriculum anddaily routine in schools for the holistic development of children. Facilities for the above will be a pre-requisite to the recognition of schools.- Some Inputs for Draft NationalEducation Policy 2016 - http://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/nep/Inputs_Draft_NEP_2016.pdf
6. "Education is concerned with all -round development of the child (physical, socio-emotional along with cognitive) and, therefore, all aspects need to be assessed rather than only academic achievement."- ibid.

सारिणी : मूल्याधारित शिक्षा में योग के अंगों का

(Depicting limbs of Yoga & their role in Value Oriented Education)

क्र.	The Limbs of Yoga योग के अंग[7]	Interpretation of the limbs of Yoga in Value Oriented Education मूल्याधारित शिक्षा में योगांग मूल्य के रूप में	Level of Value			
			वैयक्तिक Personal	सामाजिक Social	राष्ट्रीय National	अन्तर्राष्ट्रीय International
1.	सत्य	सार्वभौमिक मूल्य	Y	Y	Y	Y
2.	अहिंसा	सार्वभौमिक मूल्य	Y	Y	Y	Y
3.	अस्तेय	सामाजिक मूल्य	Y	Y		
4.	अपरिग्रह	सामाजिक भेद-भाव को कम करने वाला, समानता लाने वाला, समाजवाद को पल्लवित करने वाला	Y	Y		
5.	ब्रह्मचर्य	वैयक्तिक मूल्य	Y			
6.	शौच	आन्तरिक एवं बाह्य शौच- वैयक्तिक मूल्य मानसिक एवं शारीरिक शौच- सामाजिक मूल्य भी	Y	Y		
7.	सन्तोष	मानसिक मूल्य, सामाजिक, राष्ट्रिय-अन्तरराष्ट्रीय समरसता के लिये भी आवश्यक, उपभोक्तावाद के शमन के लिये अनिवार्य, शान्ति का पूर्व आपेक्षित मूल्य	Y	Y	Y	Y
8.	तप	वैयक्तिक, किन्तु दृढ़ता एवं क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से सार्वभौमिक मूल्य	Y			

7. *योगसूत्र*, द्वितीय अध्याय, साधनापाद—
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।।29।।
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।30।।
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।31।।
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।32।।

9.	स्वाध्याय	अनुचिन्तन के लिये अनिवार्य, अनुचिन्तन सहिष्णुता एवं आपसी समझ के लिये अपिरहार्य है।	Y	Y	Y	
10.	ईश्वरप्रणिधान	आध्यात्मिक मूल्य, आस्था का जनक	Y			
11.	आसन	शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के मूल्य	Y		Y	Y
12.	प्राणायाम	जीवनशक्ति, कर्मशक्ति को बढ़ाने वाले ऊर्जामयता के मूल्य	Y	Y	Y	
13.	प्रत्याहार	त्याग एवं संयम के मूल्य	Y	Y	Y	Y
14.	धारणा	संकेन्द्रण	Y			
15.	ध्यान	शान्ति, सौहार्द्र के मूल्य	Y	Y	Y	Y
16.	समाधि	परम मूल्य, आध्यात्मिक पूर्णीकरण का मूल्य	Y			

कार्यक्रम अधिकारी,
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार),
36, तुगलकाबाद इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली – 110062
दूरभाष : 7839098015

वैदिक मन्त्र, जप तथा हवनप्रक्रिया

प्रवीण कुमार शर्मा

अनादि ईश्वर की अनादिसृष्टि के मूलभूतज्ञान के साथ अनुविद्ध अनादिशब्द ही 'वेद' है। वे वेद अपौरुषेय होने के कारण ही 'आगम' प्रमाण के रूप में माने जाते हैं। आचार्यपरम्परा से अधीयमानशब्दराशि को भी 'वेद' कहते हैं। आपस्तम्ब मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही 'वेद' मानते हैं। अपूर्वलोकोत्तर-प्रभावयुक्त वेदों के मन्त्रों के जप द्वारा *अग्निपुराण* एवं विधानग्रन्थों के अनुसार अनेकों शारीरिक एवं मानसिक रोगों का उपशमन किया जा सकता है, एतावता वेदमन्त्र जप व हवन के लिए कतिपय आवश्यक नियम अपेक्षित होते हैं। अतः इस शोध-आलेख में वेदतत्त्वनिरूपण, वेदमन्त्रजपविधि एवं वेदमन्त्रहवनप्रक्रिया पर पर्याप्तप्रकाश डालने का प्रयास किया गया है, जिससे कि इस चिकित्साप्रणाली द्वारा रुग्ण मानवजाति को एक और वैकल्पिक चिकित्सासरणि समुपलब्ध हो सके।

इस विविधतापूर्ण संसार की रचना परमेश्वर ने की। किसी भी वस्तु के निर्माण करने वाले को उस वस्तु के निर्माण सम्बन्धी सामग्रियों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना होता है, अन्यथा वह उसका निर्माण कर ही नहीं सकता। अतः इस विश्वप्रपंच को बनाने से पूर्व उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमात्मा को इसका ज्ञान भी अवश्य होगा। वाक्यपदीयकार के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के साथ सूक्ष्मरूप से शब्द का सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषा में ही विचार करता है। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो शब्द के अनुवेध से रहित हो- **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'**[1]

जानाति, इच्छति, अथ करोति के अनुसार ज्ञान से इच्छा एवं इच्छा से ही कर्म होते हैं। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए शब्द आवश्यक है। अतः अनादि ईश्वर की अनादि सृष्टि के मूलभूत ज्ञान के साथ अनुविद्ध अनादि शब्द ही 'वेद' है।वेद ईश्वर द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु वे परमात्मा के निःश्वास हैं, जो ईश्वर के समान ही अकृत्रिम ईश्वरीय-विज्ञान में अनुविद्ध अकृत्रिम शब्दरूप हैं। वेद स्वयं प्रमाण हैं। उनका प्रामाण्य केवल इसलिए नहीं है कि वह किसी श्रेष्ठतत्त्व का वर्णन करते हैं, अपितु वे तत्त्व श्रेष्ठ ही इसलिए माने जाते हैं कि वे वेदों द्वारा प्रतिपादित हैं। अपौरुषेय होने से ही वेदों का प्रमाण माना जाता है।

बुद्धि के परिणाम भ्रमात्मक और प्रमात्मक दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। प्रमात्मक ज्ञान मान्य है तथा भ्रमात्मक उपेक्ष्य। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण ही आदरणीय है, अन्य नहीं। जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से काम न चले वहाँ अनुमान प्रमाण से

काम लिया जाये। प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों से काम न चले तो आगम प्रमाण माना जाता है। जैसे, कान के बिना नेत्रादि से कान के विषय शब्द का ज्ञान हो जाता तो कान की अपेक्षा नहीं थी, वैसे ही- यदि प्रत्यक्ष अनुमान से काम चल जाता तो शास्त्रप्रमाण जानने की आवश्यकता नहीं थी। जैसे—शब्द का ज्ञान कान से होता है, नेत्रादि अन्य इन्द्रियों से नहीं, वैसे ही- धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होता है, अन्य प्रत्यक्ष अनुमान से नहीं।

धर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। कार्य-अकार्यकी व्यवस्था में एक मात्र शास्त्र ही प्रमाण है[2], इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि शब्द-राशि ही शास्त्र है। मनु, व्यास, जैमिनि, प्रभृति ऋषियों एवं स्वयं वेद ने भी वेदवाणी को नित्य कहा है—'**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे**'[3], '**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्**'[4], '**शास्त्रयोनित्वात्**'[5] इत्यादि, श्रुति-सूत्रों से भी आचार्यपरम्परा से अधीयमान शब्दराशि को ही वेद कहा जाता है। 'आपस्तम्ब' भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद कहते हैं—**मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।**[6] उदयनाचार्य ने भी वेद का यही लक्षण किया है—'**अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वं वेदत्वम्।**'[7] अर्थात् जिसका मूल कोई दूसरा प्रमाण न मिलता हो और जो शिष्टपरिगृहीत हो, वही वाक्यसमूह वेद है। अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि शब्द एवं शब्दमूलक अर्थापत्ति आदि प्रमाणों द्वारा जिसका अर्थ अवगत हो, जिसके पढ़ने से पारलौकिकसुख उत्पन्न हो एवं जो जीवों से बना हुआ न हो, वह प्रमाण रूप शब्द-राशि ही वेद है।

'वेदापौरुषेयत्वाधिकरण' में महर्षि जैमिनि ने '**वेदांश्चैके सन्निकर्षे**', '**पुरुषाखया अनित्यदर्शनाच्च**', '**उक्तं तु शब्दपूर्वकत्वम्**', '**आख्याप्रवचनात्**'[8] इत्यादि धर्मसूत्रों में आचार्यपरम्परा से अधीयमान शब्द-राशि को ही वेद मानकर उसकी अपौरुषेयता सिद्ध की है। '**तच्चोदकेषु मन्त्राख्याशेषे ब्राह्मण शब्दः**' इत्यादि पूर्वमीमांसा के स्थलों में आधारभूत शब्दविशेष राशि को ही 'वेद' कहा गया है। वैदिकमन्त्र शब्द,स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिकवाक्यों का स्वरूप तथा अर्थ निरुक्त और प्रतिशाख्य से नियमित हैं, संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेदभाषा (मात्र) संस्कृतभाषा से विलक्षण है।

देश-जाति-पक्षपातशून्य होकर वह मंगलमय विभु और उसका वेद सभी का कल्याण करने वाला है। शास्त्रीयदृष्टि से विवेचन करने पर आपको ज्ञात होगा कि ऋषि-मुनियों ने वेद शास्त्र के आधार पर ही स्मृतियों का प्रणयन किया है। वे भी वेद-शास्त्र के विरुद्ध नहीं लिख सकते थे। यहाँ तक कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकभगवान् भी वेद के एक अक्षर का भी अदल-बदल नहीं कर सकते, तो फिर मानव की तो बात ही क्या ? यह बात अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, वैशेषिक, न्याय आदि शास्त्रों के विवेचन से यह सिद्ध है कि वेद ईश्वर निर्मित ही नहीं, प्रत्युत स्वयं अनादि, अपौरुषेय हैं। यदि हम वेदों को ईश्वर निर्मित मानते हैं तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

जिस तरह एक विद्यार्थी अपने पाठ को कण्ठस्थ करके सो जाता है और प्रातः-काल उठकर फिर उसी का पाठ कर लेता है, तद्वत् ईश्वर महाप्रलय में वेद को अपने उदर में रखते हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः प्रकट करते हैं। इस तरह, वेदों का आविर्भाव ईश्वर 'सुप्तप्रतिबुद्धन्याय' से करते हैं, किन्तु वह उसके एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं कर सकते। परिवर्तन से वेदमन्त्र नहीं रह जाते। हमारे धर्म के मूल प्रतिपादक इन वेदों के कर्त्ता का कोई पता नहीं है। ये अकृत्रिम हैं, अनादि हैं, अपौरुषेय हैं, अतः अपरिवर्तनीय हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त इन अमित अतुलनीय प्रभावी वेदों के मंत्रों अथवा रोगकारकग्रह के वैदिकमन्त्र के जपद्वारा अग्निपुराण एवं चारों वेदों के भिन्न भिन्न विधानग्रन्थों के अनुसार विभिन्न विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। उदाहरणार्थ नेत्ररोगनिवारणार्थ '**चाक्षुषोपनिषद्**', अनिद्रारोगनाशार्थ '**वैदिकरात्रिसूक्तम्**', इसप्रकार के सहस्रों प्रयोग अलग अलग रोगों के निवारणार्थ शास्त्रों में वर्णित है। अतः यहाँ पर अभिवांछित वेदमन्त्र जप के नियम एवं जपसङ्ख्या के दशमांश हवन सम्बन्धी नियमों का विवरण प्रस्तुत है—

वेदमन्त्र-जापकों के विशेष नियम

जापकों को प्रतिदिन नियतसमय एवं नियत स्थल पर स्नान-संध्योपासनादि नित्यकर्म करके पूर्वाभिमुख होकर मौन रखकर एवं एकाग्रचित्त से गोमुखी में रखी या वस्त्राच्छादित रुद्राक्षमाला से वेद-मन्त्रजप करना चाहिए।एक दिन से अधिक वैदिक मन्त्रजप में प्रतिदिन एक ही निर्धारित सङ्ख्या में सदा पवित्र एवं भारतीय-वेशभूषा धारण करके ही जप करना चाहिए अर्थात् कभी कम, कभी अधिक जप नहीं करना चाहिए।जापक के आसन पर कोई दूसरा व्यक्ति न बैठे। जपमध्य में यदि किसी विशेष कारणवश उठना या बोलना पड़े तो तीन बार आचमन करके उठे या बोले। पुनः जप प्रारम्भ करने से पूर्व शरीर पवित्रीकरण एवं तीन बार आचमन आवश्यक है।

जप प्रारम्भ में 'ऐं ह्रीं अक्षमालिकायै नमः' इस मन्त्र से माला की पूजा करके प्रार्थना करे—

ॐ मां माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि। चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥

ॐ अविघ्नं कुरु माले त्वं गृह्णामि दक्षिणे करे। जपकाले च सिद्ध्यर्थं प्रसीद मम सिद्धये॥

ॐ अक्षमालाधिपतये सुसिद्धिं देहि देहि सर्वमन्त्रार्थसाधिनि साधय साधय सर्वसिद्धिं परिकल्पय परिकल्पय मे स्वाहा।

जप के अन्त में निम्न प्रार्थना करे-

गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्। सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥[9]
(गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्। सिद्धिर्भवतु मे देव !त्वत्प्रसादान्महेश्वर!॥)

जप के पश्चात् आसन के नीचे से मिट्टी लेकर सिर के तिलक लगाना चाहिए।[10] एक से अधिक जापक होने पर जापकों को परस्पर वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।जपानुष्ठान के दौरान नाखून व बाल नहीं काटना चाहिए। भूमि पर शयन उत्तम है। गोदुग्ध या फलाहार पर ही रहना चाहिए, अशक्तता की स्थिति में एक समय सूर्यास्त के पूर्व भोजन किया जा सकता है।जप के समय माला के सुमेरु का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। जप दाहिने हाथ के अंगूठे, मध्यमा, अनामिका से करना चाहिए।जापकों को तम्बाकु, लहसुन, प्याज, चाय, कॉफी आदि मादक वस्तुओं का त्याग तथा क्रोध व व्यर्थ वार्तालाप का त्याग करना चाहिए।जापकों द्वारा शिखाबंधन करके जप किया जाना श्रेयस्कर है। जापकों के लिए ब्रह्मचर्य, सत्यवादनव्रत एवं सन्तोषवृत्ति का पालन करना अनिवार्य है। जहाँ पर मन्त्रजप की संखया निर्दिष्ट नहीं है, वहाँ पर जपसंखया दसहजार समझनी चाहिए।जितनी संखया में वेदमन्त्र का जप किया गया हो उसका दशमांश हवन, हवन का दशमांश तर्पण, तर्पण का दशमांश मार्जन, मार्जन का दशमांश भूदेवभोजन होना चाहिए।

हवन से लाभ एवं विधि

प्राचीन समय के ऋषियों और राजाओं ने हवन के द्वारा अतुलनीयशक्ति प्राप्तकर अपने अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त की थी। देवताओं ने भी होमादि से देवत्वपद की और इन्द्र ने सौ यज्ञ करके देवराजपद की प्राप्ति की थी। महाराज जनक ने हवन से अवर्षण की समस्या से मुक्ति प्राप्त की थी तथा महाराजदशरथ ने पुत्रेष्टियज्ञ के अनुष्ठान से ही पुत्रों को प्राप्त किया था। महाराज दिलीप के द्वारा आयोजित केवल निन्यानवें यज्ञों से सन्तुष्ट होकर देवराज इन्द्र ने सौ यज्ञ का फल उन्हें प्रदान कर दिया था। आज भी श्रद्धाभक्तिपूर्वक हवनादि से प्राणी पुत्र प्राप्ति, रोग निवारण आदि अनेक कामनाओं की सहज में ही प्राप्ति कर लेता है। हवन से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध तापों की निवृत्ति होती है। हवन के द्वारा संक्रमण से फैलने वाले रोगों की रोकथाम होती है। तेज, इन्द्रिय, पशु और धन की प्राप्ति हेतु अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए।[11] अकाल मृत्युनिवारण हेतु राजसूय यज्ञ का विधान है। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी वैदिक प्रतिष्ठित विद्वान् से ही हवनादि कार्य सम्पन्न करवावें।

पीली बालुका मिट्टी से अठारह इंच लम्बी, अठारह इंच चौड़ी तथा तीन इंच ऊँची हवनवेदी बनाकर वेदी से ईशानकोण में कलश रखें। हवनकर्ता तीनबार आचमन कर तीनबार प्राणायाम करे। 'देशकालौ संकीर्त्य होमकर्मणि पंचभूसंस्कारपूर्वकं अग्निप्रतिष्ठापनं करिष्ये' इससे संकल्प करे। तीन कुशाओं से हवनवेदी को पूर्व से पश्चिम की ओर अथवा दक्षिण से उत्तर की ओर तीन बार बुहार कर उन तीनों कुशाओं को ईशानकोण में लगभग 16इंच दूर रख दें। देशीगाय के गोबर में जल मिलाकर हवनवेदी का तीन बार लेपन करें। खदिर (खैर) के अठारह इंच लम्बे स्रुवे से वेदीमध्य में लगभग नौइंच लम्बी उत्तरोत्तर क्रम से तीन रेखाएँ पश्चिम से पूर्व की ओर खींच दें।उन रेखाओं से दाहिनेहाथ के अंगुठे व अनामिका से कुछ मिट्टी

निकालकर बांयेहाथ की हथेली में रखें, ऐसा दोबार और करें। इसके बाद उस मिट्टीको दाहिनेहाथ की हथेली में लेकर वेदी के ईशानकोण में लगभग सोलह इंच दूर रख दें।दाहिनेहाथ में जल लेकर अधोमुखहाथ से तीनबार रेखाओं पर जल छिड़कें।[12]

उक्त पंचभूसंस्कार करने के बाद सौभाग्यवतीमहिला से किसीपात्र में अग्नि मंगवाकर 'हुं फट्' यह मन्त्र बोलकर दो छोटे अंगारे नैऋत्यकोण में निकालकर अग्निकोण से स्वाभिमुख वेदी या कुण्ड में स्थापित करें। अग्निदेवता का ध्यान करने के बाद नवग्रहों का आवाहन-स्थापन-पूजन करें।[13] अग्नि से दक्षिणदिशा में पचासकुशाओं से ब्रह्मा बनाकर वरण-आवाहन-प्रतिष्ठापन-पूजन करें। वेदी के चारों ओर कुशाएँ बिछावें।वेदी से उत्तर में प्रणीता-प्रोक्षणी रखें।पात्रासादन, पवित्रीकरण करके प्रोक्षणीजल से सामग्रीप्रोक्षण करें। घी को तपावें तथाचरु पकावें।स्रुवे को उल्टा कर अग्नि में तपाकर कुशाओं से पौंछकर पुनः तपाकर बांयीतरफ कुशापर रख दें। सातकुशाओं से निर्मित उपयमनकुशा बायेंहाथ में रखें। घी में से तिनके आदि निकालकर, नौ इंच लम्बी तीनसमिधाओं को घी में डुबोकर खड़े होकर होम दें। प्रोक्षणी का जल ईशान से प्रदक्षिणक्रम से ईशानपर्यन्त छोड़ें, हाथ को अप्रदक्षिणक्रम से पुनः ईशान तक लावें तथाकुण्डपूजन करें।दाहिनाघुटना मोड़कर प्रज्वलित अग्नि में 'ॐ प्रजापतये' मन में बोलकर 'स्वाहा' कहते हुए आहुति दें।[14] स्रुवे में बचा घी आहुति के बाद प्रोक्षणी में डालते रहें।

ॐ इन्द्राय स्वाहा। 1। इदमिन्द्राय न मम। ॐ अग्नये स्वाहा। 2। इदमग्नये न मम। ॐ सोमाय स्वाहा। 3। इदं सोमाय न मम।

इन मन्त्रों से तीन घी की आहुति देवें तत्पश्चात् गन्ध-अक्षत-पुष्प से अग्निपूजन करें।गणेशजी व नवग्रहों की तथा अन्यदेवताओं की घृत की आहुति सुरवे से व साकल्य की आहुति मृगीमुद्रा से दें।[15] अब मूल प्रयोजनीय रोगनाशक वैदिकमन्त्र की निर्धारित संख्या में प्रधान आहुतियाँ दें। श्रीसूक्तहोम करके स्विष्टकृत् होम करें। **ॐ भूः स्वाहा।1। ॐ भुवः स्वाहा।2। ॐ स्वः स्वाहा।3। ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा।4।**

ये चार आहुतियाँ देकर प्रायश्चित्त आहुतियाँ दें। देवताओं का उत्तरपूजन व बलिदान,दिग्पाल-क्षेत्रपालादि बलिदेकर पूर्णाहुति दें।[16] वसोर्धाराहोम, भस्मधारण, संस्रवप्राशन, पूर्णपात्रदान, श्रेयोदान, दक्षिणादान, अभिषेक, घृतपात्रदान, ब्राह्मणभोजन, विसर्जन एवं पुण्याहवाचन करके आरता एवं ग्रन्थि विसर्जन करें।[17]

इसप्रकार उपर्युक्त-विधिपूर्वक शास्त्रनिर्दिष्ट-रोगप्रतिरोधक-वेदमन्त्र अथवा रोगप्रदग्रह के वैदिकमन्त्र के निर्धारित सङ्ख्या में, श्रद्धा विश्वासपूर्वक जप एवं उसके दशमांशहवन करने से निश्चित ही रोगनिवारण होकर उत्तमस्वास्थ्यलाभ होता है।

सन्दर्भः –

1. *वाक्यपदीयम्* 1/123
2. *श्रीमद्भगवद्गीता* 16/24
3. *मनुस्मृति* 1/21
4. *ब्रह्मसूत्रम्* 1/3/28
5. *ब्रह्मसूत्रम्* 1/1/3
6. *आपस्तम्बधर्मसूत्रम्*
7. *न्यायकुसुमांजलिः*
8. *जैमिनिधर्मसूत्रम्*
9. *दुर्गासप्तशती*, गीताप्रेस पृ.सं. 55
10. *व्यासस्मृति*
11. *शतपथ* ब्राह्मण 13/2/6/3
12. *पारस्करगृह्यसूत्रम्* 1.1.2
13. *ग्रहशान्तिप्रयोग*– पं. वायुनन्दन मिश्र पृष्ठ सं. 82
14. *ग्रहशान्तिविधिः* – पं. वेणीराम शर्मा गौड़ पृष्ठ सं. 224
15. *ग्रहशान्तिप्रयोगः* – पं. दौलतराम गौड़ पृष्ठ सं. 224
16. *श्रीप्रभु–विद्या–प्रतिष्ठार्णव*– पृष्ठ सं. 492
17. *सर्वदेवप्रतिष्ठाप्रकाश*– पृष्ठ सं. 128–132

शोध–छात्र, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
आवास— (56, राधाबागकॉलोनी, चौमूँ, जयपुर(राज.)–
9928867024, 9828376903

श्रीसीतारामकविराजपञ्चकम्

त्र्यम्बकेश्वरः चैतन्यः

ललितापदपद्मपरागलिहं, शरणागतवत्सलभाववरम्।
शशिशुभ्रमुखं करुणानिलयं, प्रणमामि सदा कविराजगुरुम्।। 1 ।।
नगवा-शुभभागरतं शिवदं, बहुशिष्यवितानयुतं शुभदम्।
जपयोगसमर्चनवृत्तिपरं, प्रणमामि सदा कविराजगुरुम्।। 2 ।।
नवनीतमनोहरकान्तियुतं, गुरुदेवकृपापयपूततनुम्।
परिणामविदं परिपाकजितं, प्रणमामि सदा कविराजगुरुम्।। 3 ।।
करपात्रपदाब्जसुगन्धवृतं शशिशेखरधामनिवासरतम्।
विधिबोधविधानविदैकनृपं, प्रणमामि सदा कविराजगुरुम्।। 4 ।।
त्रिपुरासुरभामिनि-भक्तिकरं, द्विजधेनुसमर्पित-बुद्धिधरम्।
निगमागमसारपयोधिनिधिं, प्रणमामि सदा कविराजगुरुम्।। 5 ।।
ललिताभाववृद्ध्यर्थं, सन्तस्मरणकारकम्।
करोति त्र्यम्बकः प्रीत्या, श्रीकविराज-पञ्चकम्।। 6 ।।

धर्मसंघसंस्कृतमहाविद्यालयः
भादरा : गंगानगरम् (राजस्थानम्)